प्रथम अध्याय

आदिवासी समाज : अस्मिता का परिप्रेक्ष्य

प्रथम अध्याय

आदिवासी समाज:अस्मिता का परिप्रेक्ष्य

आदिवासी, जिनका समाज आज की दुनिया में चौथे विश्व के रूप में जाना जाता है, किसी भी देश के मूल निवासी के रूप में अपनी पहचान रखते हैं। परंतु यथाविदित है कि सच हमेशा वैसा ही नहीं होता जैसा कि वह दिखता है। आदिवासी जीवन किसी भी देश-काल में उपेक्षित ही रहा। संस्कृति के वर्चस्ववादी पक्ष ने उसके इस लोक-पक्ष को सदा अंधकार में बनाए रखने की कुचेष्टाएं कीं। इनसे इनका इतिहास-भूगोल तक छीन लिया। ऐसे में विज्ञान का वह सूत्र चरितार्थ हुआ कि प्रत्येक क्रिया के विपरीत और समान प्रतिक्रिया होती है। ऐसे में आदिवासी अस्मिता का विस्फोट होना लाजिमी था एवं राजनीति से लेकर साहित्य तक को इसकी जद में आना ही था। आदिवासी जीवन के अपने सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक आधार तो हैं ही साथ ही इन आधारों से जुड़े उनके शोषण एवं समस्याओं की वैविध्यमयी प्रकृति भी है। ये सारी सच्चाइयाँ एवं उनके भीतर की स्थितियाँ आदिवासी साहित्य का मूल कलेवर हैं। आदिवासी लोगों से 'मैं' नामका अहम् बहुत दूर रहता है। यह समाज संगठित होकर अपना जीवन जीता है और इसमें सहयोग की भावना विद्यमान रहती है। यह स्थिति तब है जब आज अन्य समाजों एवं संस्कृतियों में इसका अभाव लक्षित होता है और व्यक्तिकेन्द्रित स्वार्थ कार्यरत है। आदिवासी समाज अपनी आस्था, लोककथा, वीरगाथा के साथ ही अपनी अनेक परम्पराओं-लोकाचारों को लिपिबद्ध करने के लिए संघर्ष कर रहा है क्योंकि वह अपनी पहचान दुनिया के सामने रखना चाहता है।

"आदिवासी प्रकृतिपूजक होते हैं। पारिस्थितिक चक्र में उनकी भूमिका प्रकृति-हितैषी की है। अतः उनके द्वारा पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने का प्रश्न ही नहीं उठता"[1] । आदिवासी जीवन से

लेकर आदिवासी साहित्य तक में शास्त्रों और सिद्धान्तों के लिए कोई जगह नहीं है, फिर भी आदिवासी साहित्य के बारे में सही समझ विकसित करने और मूल्यांकन करने के लिए हमें उसके बुनियादी तत्त्वों की पहचान करनी होगी।यह इनके जीवन का वह मूल तत्व है, जिसके अभाव में आदिवासी आस्मिता की कल्पना करना इनके साथ छल करने के समान है। आदिवासियों और जंगलों के आपसी सहयोग ने ही इन्हें बचाए रखा। यह समाज कभी भी संचयन की धारणा नहीं बल्कि आवश्यकता और तदर्थ पूर्ति की समाजोन्मुखी इच्छा पर टिका हुआ है। विडम्बना यह है कि हमने ऐसे लोगों को बर्बर और असामाजिक मानकर इनसे दूरियाँ बनाईं तथा कभी भी उनके संस्कारों, उनकी सभ्यता-संस्कृति को जानने का प्रयास नहीं किया। उनके प्रति कल्पनाजीवी रहे और 26 जनवरी के गणतंत्र दिवस समारोह में उनकी प्रदर्शनी लगाकर अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ ली। कहने का आशय यह कि समाज में 'वे भी हैं' हम यहीं तक उनकी नोटिस लेते हैं। ऐसी ही समस्या को रमणिका गुप्ता रेखांकित करती हैं- "जीवंत मनुष्य का एक जंगली मनुष्य के फ्रेम में मढ़ा जाना, उसे उसी तरह जड़ा और जकड़ा रहने देने की प्रक्रिया सदैव जारी रही और आज भी जारी है लेकिन अब फ्रेम के भीतर जड़ी तस्वीर स्वयं हिल उठी है और फ्रेम तोड़ कर बाहर आने के लिए कदम बढ़ा चुकी है।"[2]

नगरीकरण तथा औद्योगीकरण की कुप्रथा ने भी जनजातियों के सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। ऐसा लगता है कि अपनी जमीन के प्राकृतिक संसाधनों को लूट लेने के बाद इन तथाकथित विकास की पक्षधर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपनी पूंजी को और बढ़ाने के लिए जंगलों की तरफ अपने कदम बढ़ाए हैं । यदि आदिवासी स्वार्थी होते तो जंगलों में इतने समय तक ये प्राकृतिक संसाधन संरक्षित-सुरक्षित न बने रहते। पूंजी और पूंजीवाद के वैश्वीकरण के दौर में यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि तथाकथित लोगों के अपने राजनीतिक एवं आर्थिक निहितार्थ

हैं। वनों की लकड़ी एवं खनिज पदार्थों का अत्यधिक दोहन तो हुआ ही; परंतु इन क्षेत्रों में न तो आदिवासियों को नौकरियाँ मिलीं और ना ही इन स्थानों पर कोई वैकल्पिक उत्पादन की व्यवस्था हुई। यदि कुछ हुआ तो बस इतना ही कि दोहन के पश्चात इन क्षेत्रों का परित्याग कर दिया गया। झारखंड में अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें कोयला खनन के बाद जहरीले धुएँ एवं जमीन के नीचे लगी आग के हवाले कर दिया गया। यहाँ निवास करने वाले आदिवासियों को मरने के लिए उनके हाल पर छोड़ दिया गया। "दरअसल आदिवासियों का शोषण केवल बाहरी शक्तियों ने ही नहीं किया बल्कि भारत के आंतरिक उपनिवेशवादियों ने भी किया। उनकी जमीनें व रोजगार के साधन बाहरी लोगों ने हड़पे ही लेकिन भारत के मैदानी लोग भी वहाँ जाकर इतनी भारी संख्या में बस गए कि आदिवासी अपने ही घर में अल्पसंख्यक हो गए या कि अजनबी हो गए।"[3]

आदिवासियों की भूमि के अधिग्रहण के बदले में किए गए वायदे फिर चाहे वे भूमि की कीमत देने से जुड़े हों या फिर वहाँ खुल रही सरकारी या गैर-सरकारी संस्थाओं में नौकरी देने से संबंधित हों, कभी पूरे नहीं किए गए। उनके पुनर्वास की कोई व्यवस्था नहीं हुई। कहना न होगा कि इन हिस्सों में कभी भी पूर्ण उत्पादन या निर्माण के रचनात्मक पक्ष पर विचार ही नहीं हुआ। यह कल्याणकारी पूंजीवाद का दौर नहीं है बल्कि यह तो बेशर्म पूंजी का दौर है, जहां राष्ट्र/राज्य और उसकी सेना, प्रशासन सब इसी तरह की पूंजी के संरक्षक हैं। पूंजीवाद का चेहरा हर रोज बदल रहा है। ऐसे में उसकी पहचान कर उसके षड़यंत्रों को बेनकाब करना बहुत कठिन है। आदिवासी समाज के भोले-भाले लोगों के लिए तो पूंजीवाद के इस चरित्र को समझना और भी कठिन है। जीवन के कुचक्र को भोगते यह आदिवासी समाज जिनके पास प्रकृति का अद्भुत सौन्दर्य, अनेकानेक रत्नों का भण्डार है एवं प्राचीन संस्कृतियाँ हैं, फिर भी गरीब आदिवासियों को इनसे कुछ ना मिल सका। "इसलिए रिहन्द बाँध परियोजना निर्माण के प्रति गरीब आदिवासी युवक की यह आवाज करुणापूर्ण

और हृदय विदारक है –बाबू ई पोरजेट हमन के सीना पर बनत बा, हमन के धरती में गाड़ के। रेहण्डम बनै लागत त हमन के उज्ड़ै के पड़ल, अब बीना (कोयला परियोजना) बनत बा त ऊहउं से उजड़इ के परत बा। हमन त बिलेला होइ गैल हई" [4]इस कथन से स्पष्ट होता है कि आदिवासियों के विस्थापन के बाद उन्हें उचित मुआवजा ना मिलने के कारण वे विस्थापित हो कर बंधुआ मजदूरी के लिए मजबूर हुए हैं। रमणिका गुप्ता लिखती हैं -"पुराने और खोये हुए दिनों से ही/ वहां मौजूदा भाईचारा था, जो उनकी पूंजी/ गढ़े थे, उन्होंने अपने रीति-रिवाज अपने अनुष्ठान/उन्हीं में पाया अपना धर्म/ जो थी चूल्हे की आग/ तब सिरजी उन्होंने राजनीति अपनी"[5]

1.1. अस्मिता : तात्पर्य एवं स्वरूप

वर्तमान समय अस्मिताओं के संघर्ष और उनके उदय का समय है। अस्मिताओं का उदय आज एक गम्भीर रूप धारण कर चुका है। आज विश्व के सभी कोनों में अस्मिता पर चर्चा हो रही है। दरअसल वर्तमान समय अब तक दमित-दलित, शोषित और हाशिए पर पड़े लोगों को अस्तित्व में लाने का समय है। आज प्रत्येक समाज अपनी अस्मिता को लेकर काफी गम्भीर है, चाहे वह उसकी जाति हो या धर्म, संस्कृति हो या भाषाई प्रदेश हर तरफ से संघर्ष करने को वह विवश हैं। इस प्रकार अस्मिताओं का उदय साहित्य एवं समाज के लिए नई रोशनी लाता है। आज हम और हमारा समाज इन अस्मिताओं को समझने, पहचानने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हैं।

आज वैश्वीकरण, उत्तर आधुनिकता एवं वर्चस्ववाद की प्रकिया के बीच 'अस्मिता विमर्श' एक अत्यंत ज्वलंत मुद्दे के रूप में उभरा है। अस्मिता का प्रश्न भूमंडलीकरण के शोर-सराबे को चुनौती देता उठ खड़ा हुआ है, जिसके अनुसार "स्थानीयता के प्रति सम्मानित दृष्टि के बगैर हम वैश्विक होने का दावा नहीं कर सकते ।"[6]स्थानीयता का तात्पर्य यहां केवल परिवेश नहीं है। "अंडमान के एक आदिवासी समुदाय बो की इकलौती सदस्या बोआ की 26 जनवरी,2010 को

मृत्यु हो गई। उनके साथ विश्व की एक भाषा भी साथ चली गई। वह बो भाषा जानने वाली आखिरी मनुष्य थीं। अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह से भारतीय स्वाधीनता संग्राम के गहरे संबंध को देखते हुए किसी समय राष्ट्रवादी इतिहासकारों और राजनेताओं ने मांग की थी कि इन द्वीपसमूहों का नाम बदलकर 'शहीद' और 'स्वराज' रख दिया जाए बिना यह सोचे कि वहां के आदिवासी अपनी जमीन को किस नजर से देखते हैं!"[7]

1.1.1. अस्मिता का तात्पर्य :

संस्कृति, जातीयता, लिंग, राष्ट्रीयता, धार्मिकता, स्मृति जैसे अनेकानेक तत्व हैं, जो अस्मिता के चरण हैं। सुप्रतिष्ठित चिंतक ऐरिक्सन ने अस्मिता को "समानता में और किसी साझी विश्व छवि में विश्वास का नाम दिया है। इन्होंने यह भी जानने का प्रयास किया है कि किस प्रकार एक किशोर (व्यक्ति) का अस्मिता बोध व्यवसाय, लिंग, संबंध, राजनीति और धर्म आदि द्वारा प्रभावित होता है।"[8]मनोवैज्ञानिक अध्येताओं ने अस्मिता और व्यक्तित्व-विकास के मध्य अंतर्संबंधों का विश्लेषण किया है। "उन व्यावहारिक/वैयक्तिक अभिलक्षणों के समूह द्वारा भी व्यक्ति की अस्मिता को इंगित किया जाता है जिनके आधार पर वह व्यक्ति किसी समूह विशेष का सदस्य माना जाता है। इस प्रकार से व्यक्ति की अपनी अस्मिता किसी-न-किसी सामूहिक अस्मिता के साथ जुड़ जाती है।"[9]

'अस्मिता' व्यक्ति को, 'मैं कौन हूँ ?','मेरी जड़े कहाँ हैं ?' एवं 'अपने समाज से मेरा संबंध कैसा है ?' जैसे सवालों पर सोचने के लिए प्रेरित करती है। अस्मिता व्यक्ति की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक स्थितियों को व्याख्यायित करती है। यह किसी दूसरे व्यक्ति अथवा समुदाय के विचारों को धारण करने की बजाय अपनी आत्म चेतना पर केन्द्रित होती है। अस्मिता शब्द की व्युत्पत्ति मूलतः 'अस्मि' शब्द से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है "मैं" अर्थात् मेरे सपने, मेरे अधिकार, मेरी जरूरतें एवं आकांक्षाएँ एवं मेरे लिए अभिव्यक्ति की आजादी इत्यादि है। मूलतः 'अस्मिता' व्यक्ति

के जीवन की अभिव्यक्ति है। "अस्मिता सत्ता के समीकरण और शक्ति के संतुलन में अपने हिस्से पर दावे की सैद्धांतिकी है।"[10]

1.1.2. स्वरूप :

वर्तमान समय में लोकतांत्रिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप अस्मिता रूपी चेतना का विकास हुआ है। किसी भी राष्ट्र को अपनी अस्मिता प्राप्त करने में वर्षों जद्दोजहद करना पड़ता है। आज के इस उत्तर आधुनिक समय में स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक आदि कई अस्मिताएं हमारे समक्ष विमर्शों की जमीन पर उग आई हैं। अस्मिता को प्राप्त करने में कई वर्षों का समय लगता है। यथा, स्त्री अस्मिता को ही यदि देखा जाए तो उसकी प्रक्रिया स्त्री के लिए काफी जटिल है। दरअसल वंचितों, शोषित, दलितों एवं अन्य समूहों के वे ही सदस्य इन अधिकारों का दावा करते हैं, जो इन सभी चीजों से ऊपर उठ चुके होते हैं। "इन दावों से सामाजिक समीकरण बदलता है। वृहत्तर समाज के भीतर लघूत्तर समूहों की गुटीय अस्मिताओं की टकराहट तोड़-फोड़ पैदा करती है। एक सीमा तक परिवर्तन की किसी भी प्रक्रिया के लिए तोड़-फोड़ आवश्यक है, परंतु एक सीमा के पश्चात इसके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यह रास्ता उन समूहों के लिए भी अवरुद्ध होता है, जो इन टकराहटों के जरिए समाज में अपना स्थान और सम्मान अर्जित करने की उम्मीद और कोशिश कर रहे थे।"[11]

मनोविज्ञान में अस्मिता विमर्श के संदर्भ में यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि अस्मिता मनुष्य के आत्मबोध का परिणाम है। आज मनुष्य के लिए 'स्वत्व ' की अवधारणा केन्द्रीय है और इसका अर्थ उसके द्वारा अपने आप को विश्लेषित करना है। मनुष्य विकसित होने के क्रम में अपनी अस्मिता का निरन्तर आकलन करता रहता है।

मनुष्य की स्वायत्तता अर्थात् उत्तम जीवन-शैली के संदर्भ में चुनाव करने का सामर्थ्य। स्वायत्तता का बड़ा गहरा संबंध संस्कृति से है। किसी भी व्यक्ति की स्वायत्तता उसकी संस्कृति की समृद्धि और अन्य व्यक्तियों अथवा समुदाय द्वारा उसकी संस्कृति को दिए जाने वाले सम्मान से जुड़ी हुई होती है। आज के समय में बहुसंस्कृतिवाद संस्कृतियों के विकास में सहायता करता है "वैसे जातीय और राष्ट्रीय समूह यह चाह सकते हैं कि व्यापक समाज के फैसले का प्रभाव सीमित हो, ताकि वे अपने विशिष्ट अस्तित्व और पहचान की हिफाजत कर सकें।"[12] राज्य प्रायः अपने विविध समाजों की जातीय-सांस्कृतिक पहचानों के प्रति अपने निहित स्वार्थों के कारण उदासीन रवैया अपनाते हैं। "आम तौर पर बहुसंस्कृतिवाद के समर्थक और आलोचक दोनों ही इस अवधारणा को मानते हैं कि अपने सामान्य रूप में काम करते हुए उदारवादी राज्य जातीय-सांस्कृतिक विविधता के प्रति अहानिकर उपेक्षा (benign neglect) के सिद्धान्त से बंधा होता है। इसका मतलब यह है कि राज्य अपने नागरिकों की जातीय-सांस्कृतिक पहचानों के प्रति उदासीन रहता है।"[13] सांस्कृतिक अस्मिताओं की लड़ाइयाँ जो न्यायपालिका से भिन्न हैं, उनके आयामों और परिणामों पर विचार करना कठिन है। इस सन्दर्भ में श्यामाचरण दूबे लिखते हैं "जातीयता की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है। जातीय-समूहों के सीमांत समय–समय पर बदलते रहे हैं।"[14] इस तरह जनजातीय समूहों का सबसे बड़ा संकट अपनी पहचान को लेकर है।अपने जल, जंगल, जमीन से जुड़े होने के कारण इनकी पहचान इन्हीं बिंदुओं पर की जाती रही है। जनजातिगत संस्कारों से जुड़े आदिवासी लोगों पर अस्मिता का भारी संकट आ पड़ा है, जिसके चलते वे अपनी पहचान को लेकर चिंतित हो उठे हैं। यथा, उनके सामने प्रश्न यह है कि वे वनवासी हैं या आदिवासी या जनजाति।

आज की आलोचना में अस्मिता का विमर्श से बड़ा गहरा रिश्ता है। यह कहना अनावश्यक नहीं है कि अस्मिताएँ आज विमर्शों के लिए ज़मीन तैयार करती हैं। एतदर्थ, यह कहा जा सकता है

कि सामाजिक न्याय और सुरक्षा से जुड़े संवैधानिक मुद्दे ने अस्मिता और विमर्श को एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में परिवर्तित कर दिया है। इस क्रम में विमर्श की सैद्धांतिकी को समझना यहाँ आवश्यक होगा।

1.1.2.1. **'विमर्श'- तात्पर्य :**

'विमर्श' शब्द के साथ विचार शब्द का भी प्रयोग होता है। प्रायः विचार-विमर्श शब्द युग्म का प्रयोग किया जाता है। विमर्श शब्द बहस का समानार्थी है। आज के इस दौर में जब हिन्दी आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह ने लेखन की बजाए वाचिक विमर्शात्मक आलोचना का स्वरूप गढ़ा तब उनका लक्ष्य वाद-विवाद एवं संवाद की स्थितियों को उन्नत बनाना था। यह स्पष्ट है कि आज का समय वाद-विवाद और संवाद की अपेक्षा रखता है। विमर्श या बहस हाशिए पर छोड़ दी गई सामाजिक इकाइयों के लिए अपनी बात को पूरे दम-खम से कहने के लिए मंच देता है। यह पूरी प्रक्रिया भावात्मक अधिक है क्योंकि इसमें संवाद का एकपक्षीय रूप ही अधिक परिलक्षित होता है। यह कुछ ऐसा है कि जो पहले मजबूरन चुप था, अब वह ही बोलेगा और जो पहले सिर्फ बोलता था, अब वह सिर्फ सुनेगा। समांतर कोश के अनुसार 'विमर्श' शब्द का अर्थ है "अनुकूल-प्रतिकूल चिन्तन, सोच-विचार, चर्चा सोच-समझ आदि ।"[15] 'विमर्श' का तात्पर्य ज्ञान शब्दकोश में "विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा तर्क, ज्ञान" बताया गया है।''[16]उपर्युक्त उद्धरण के अलावा आबिद रिजवी ने 'बृहत् हिन्दी शब्दकोश' में विमर्श का अर्थ बताया है-"समालोचना, परामर्श, परीक्षा किसी बात पर अच्छी तरह विचार करना।"[17] 'विमर्श' से तात्पर्य मात्र सोच-विचार, चिंतन-मनन से है। भोलानाथ तिवारी के शब्दों में 'विमर्श' का अर्थ है "तबादला–ए-खयाल, परामर्श, मशविरा, राय-बात, विचार-विनिमय, विचार-विमर्श, सोच-विचार।"[18]

1.1.2.1.1 **अस्मिता-विमर्श:**

अस्मिता-विमर्श सत्ता और राजनीति से किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है। अर्चना वर्मा लिखती हैं "अस्मिता-विमर्श सत्ता के समीकरण और शक्ति के संतुलन में अपने हिस्से पर दावे की सैद्धांतिकी है।"[19] ऐसे में "हमारे सामने यह सवाल भी आता है कि क्या आज के बाजारवाद में हर स्तर पर अस्मिता का किन्हीं सांस्कृतिक संदर्भों में उत्पादन भी किया जाता है? या राजनीतिकरण किया जाता है? संघर्षशील समुदाय राजनीतिक हस्तक्षेप के लिए अपना राजनीतिक गठन करते हैं पर उनका आधार कितना लोकतांत्रिक और उदारवादी है, कहीं वह जातीय स्तर पर कट्टरपंथी संकीर्ण राजनीति का समर्थन तो नहीं कर रहे, यह देखना भी जरूरी है।"[20]

वर्तमान समय विमर्शों का समय है। वैश्विक परिदृश्य में अनेक प्रकार के विमर्श चल रहे हैं, जिनका संबंध मानवीय चेतना को उद्‌बुद्ध एवं उदात्त करना है। इन विमर्शों में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, पर्यावरण विमर्श महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी आदिवासी, दलित और स्त्री विमर्श आज के विमर्शों के केन्द्र में हैं।

किसी भी समाज को बनाने में स्त्रियों की भागीदारी बराबर की रही है, किन्तु आज भी उनकी उपेक्षा हो रही है। आज भी समाज ने उन्हें वह अधिकार नहीं दिया है, जिसकी वे हकदार हैं। आत्मचेतना, आत्मसम्मान, आत्मगौरव, समता एवं समानाधिकार स्त्री चेतना का मूल उद्देश्य है। हिन्दी में स्त्री विमर्श की संकल्पना वस्तुतः स्वाधीनता के बाद की है, किन्तु आज भी उस पर व्यापक विचार की आवश्यकता बनी हुई है। जहाँ 'मैं' की चिन्ता का अहसास है, मानना चाहिए कि वहाँ से स्त्री विमर्श की शुरूआत है।

दलित विमर्श की संकल्पना आधुनिक युग की देन है। वस्तुतः दलितों के जीवन पर चिन्ता स्वतंत्रता पूर्व से ही होने लगी थी। मूलतः दलित विमर्श 20वीं सदी के अन्तिम दशक में अस्तित्व में

आया। समाज में दलित कहीं से नहीं पैदा होते बल्कि शोषकों एवं पूँजीपतियों द्वारा दलित बनाया जाता है। दलितों एवं वंचितों को भी समाज और देश में सम्मान के साथ जीवन यापन का अधिकार मिलना चाहिए। हिन्दी में स्त्री तथा दलित विमर्श को केन्द्र में लाने में 'हंस' पत्रिका के दिवंगत सम्पादक' राजेन्द्र यादव' का अतुलनीय योगदान रहा है।

इनके अलावा आज आदिवासी विमर्श भी एक महत्वपूर्ण विमर्श बन कर हमारे सामने विद्यमान है। हाशिये से केन्द्र में आने की आदिवासी विमर्श की अलग ही गाथा है। आदिवासी विमर्श, दलित तथा स्त्री विमर्श की भांति केन्द्र में नहीं था, लेकिन अब इसकी भी गूँज सुनाई देने लगी है। भारतवर्ष में आदिवासियों का एक बड़ा हिस्सा जंगलों में रहा करता है। यह वह जाति है कई वर्षों से यहाँ निवास कर रही है। वर्तमान समय में यदि किसी समाज को सबसे ज्यादा छला गया है, तो वह है आदिवासियों का समाज। आज भी वह उन सभी सुविधाओं से महरूम है, जिनके वह हक़दार हैं। उनके प्रति कहीं-न-कहीं उपेक्षा का भाव हमारी सामाजिक व्यवस्था में दिखता है। वस्तुत: आज आदिवासी समाज के संदर्भ में किया गया गम्भीर विचार-चिन्तन ही आदिवासी विमर्श है। यह आधुनिक युग की संकल्पना है।

1.1.2.1.2. **स्त्री अस्मिता:**

सदी के प्रारम्भ से ही अस्मिता विमर्श जैसे व्यापक मुद्दे से स्त्री अस्मिता का बोध होने लगता है। पारिवारिक व सामाजिक संबंधों के संदर्भ में देखा जाए तो इन संबंधों ने इनकी अस्मिता को सर्वाधिक प्रभावित किया है। अर्चना वर्मा लिखती हैं कि इसलिए "एक ओर यह (स्त्री विमर्श) राजनीतिक, आर्थिक दासता के विरुद्ध लड़ते हुए समूचे समाज के एक सदस्य की हैसियत से संघर्ष में अपना योगदान था, तो दूसरी ओर समाज के भीतर अपनी दीन-हीन दशा के विरुद्ध शृंखला की कड़ियाँ तोड़ देने का आह्वान था।"[21] स्त्री के संदर्भ में परंपरा और रूढ़ियों की आड़ में पुरुष की ओछी

मानसिकता और भी विवेकहीन हो जाती है। इस प्रकार वर्तमान समय में स्त्री जाति अपने व्यक्तिगत अस्तित्व या पहचान के लिए संघर्षरत है। पितृसत्ता में उसकी पहचान पुरुष जाति पर आश्रित होने के कारण उसकी अस्मिता ओझल-सी हो गई। स्त्रियों का मानसिक और शारीरिक शोषण सदियों से होता रहा है। वे जीवन से समझौता करते हुए आज हाशिए पर आ गईं तथा विमर्श का विषय बन गई। स्त्री समाज की सड़ी-गली परंपराओं और रूढ़ियों से मुक्ति के लिए संघर्षरत है। अर्चनावर्मा लिखती हैं"स्त्री अस्मिता-विमर्श की स्थिति विलक्षण है। वह समाज के हर समूह में, सुविधा संपन्नता के पैमाने पर देखें तो लघुतम से उच्चतम तथा सामाजिक समूहों के पैमाने से देखें तो सारी दैशिक, प्रादेशिक, भाषिक, धार्मिक जातीय सामूहिकताओं की हर इकाई में वंचित की हैसियत से मौजूद है और स्त्रीवादी आन्दोलन उसे सारी अस्मिताओं के आर-पार एक विराट वैश्विक समूह में संगठित करने का अभिलाषी है। यह स्त्री बनाम पुरुष का प्रतिपक्ष है। इसलिए स्त्री के पक्ष में कोई भी वक्तव्य पितृसता अथवा पुरुष वर्चस्व के विरोध से शुरू होता है।"[22] पितृसत्तात्मक व्यवस्था के षड़यंत्रों ने स्त्री को हमेशा ही विकल्पहीन दुनिया में जीवन जीने के लिए बाध्य किया है। स्त्रियों पर अनेक आरोपों एवं उपमाओं को मढ़ा जाता है। "पितृसत्ता के इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए स्त्रियों ने जितना विरोध-प्रतिरोध किया है, उन पर उतना ही अधिक दमन,हिंसा और अत्याचार बढ़ता गया।"[23] वर्तमान समय में भी स्त्रियों की स्थिति शोचनीय है।

भारतीय समाज स्त्रियों के अधिकारों एवं उनकी स्वतंत्रता और सत्ता में उनकी भागीदारी से पूर्णत: भयभीत दिखाई पड़ता है। सरकारी ही नहीं बल्कि कारपोरेट सेक्टर में भी लोग इससे प्रभावित हैं। "पिछले दिनों एक सर्वेक्षण से यह चौंकाने वाला तथ्य सामने आया कि देश के कारपोरेट क्षेत्र में शीर्ष पदों पर महिलाओं को नियुक्त नहीं किया जा रहा है। बड़ी-बड़ी कंपनियों में यह अघोषित नियम लागू है कि महिला कर्मियों को उच्च पदों तक न जाने दिया जाए।"[24]

इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि "अपनी अखंडता और संपूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है, वहाँ वह एक ऐसी शक्ति है, जो स्वतंत्र और स्वच्छंद है, बनैली और स्वैराचारिणी है। इसीलिए समाज ने उसे तोड़ा है। तोड़कर ही किसी को कमजोर और पालतू बनाया जा सकता है। समाज ने लगातार और हर तरह की कोशिश की है कि उसे परतंत्र और निष्क्रिय बनाया जा सके।"[25]

सभ्यता के इतिहास में विकास के क्रम में स्त्री की पहचान पितृसत्ता हजम कर गई। डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी ठीक ही लिखते हैं - " ऐतिहासिक विकास के क्रम में स्त्री की अपनी पहचान खो गई और अस्मिता के नाम पर केवल शरीर भर रह गया। जो उसका था ही नहीं अपितु पुरुष का था। जीवन को संचालित करने वाले संस्थान, कलारूप, नियम, मूल्य और पैमाने सब पुरुष केंद्रित हो गए, स्त्री हाशिए पर थी या निष्क्रिय थी। जीवन-जगत का पर्याय पुरुष था, स्त्री को तो प्रकृति का पर्याय बना दिया गया। लिंगभेदीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की चौतरफा अनुपस्थिति को स्त्री ने अपने संघर्ष, जिजीविषा और परिवर्तन के प्रति अपनी गहरी आस्था के जरिए तोड़ा ।[26]निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आज "औरत का मानवीय रूप सहोदरा कही जाने के बावजूद स्वीकृत नहीं है। हमारे देश में औरत यदि पढ़ी-लिखी है और काम करती है,तो उससे समाज और परिवार की उम्मीदें अधिक होती हैं। लोग चाहते हैं कि वह सारी भूमिकाओं को बिना किसी शिकायत के निभाए। वह काम कर पैसा भी लाए और घर में अकेले खाना भी पकाए; बूढ़े सास-ससुर की सेवा भी करे और अपने परिवार का भरण पोषण भी। स्पष्टवादिता उसका गुनाह माना जाता है। वह घर बचाने की सोचे, घर बिगाड़ने की नहीं। सब कुछ तो उसी पर निर्भर करता है? समाज ने इतनी स्वायत्तता दी कि परिवार उसको काम करने की इजाजत देता है। यही क्या कम रहमदिली है? फिर शिकायत क्या?"[27] इस संदर्भ में मशहूर लेखिका प्रभाखेतान की मान्यता है"आज स्त्री ने सदियों की खामोशी तोड़ी है।

उसकी नियति में बदलाव आया है। उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका मन-मिजाज सभी तो बदल रहा है।"[28] ऐसे में इतना तो समझना ही होगा स्त्री को कि "झूठे प्रलाप से, आरक्षण की भीख माँगने से कुछ होने जाने वाला नहीं। स्त्री को तो प्रतिरोध की भाषा सीखनी होगी।"[29]

कहना न होगा कि स्त्री विमर्श हमारे समय की अनिवार्यता है। यह सामाजिक संरचना में लैंगिक धरातल पर अपनी जगह बनाने की भी जद्दोजहद भी है।

1.1.2.1.3.**दलित अस्मिता:**

'दलित' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है जिसका दलन हुआ हो।इसमें वे सभी व्यक्ति आ जातेहैं, जो किसी-न-किसी कारण से दबाए और शोषित हुए हैं। वस्तुत: समकालीन परिवेश को 'दलित अस्मिता' का जन्मदाता मानना होगा। दलित साहित्य के अध्येता एवं मराठी के समीक्षक गंगाधर पानतावणे की मान्यता है-"दुनिया में शोषितों एवं पीड़ितों का दु:ख बहुत कुछ समान हुआ करता है। जहाँ सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्वातंत्र्य नकारा जाता है, वहाँ वैचारिक और क्रियाशील आंदोलन होते हैं, फिर चाहे वह बुराकुमीत से जुड़े हों, नीग्रों से जुड़े हों या दलित से जुड़े हों।"(जगातल्या शिषितांचं, पीडितांचं दु:ख बरचसं समान असतं। जेथे समाजिक व सांस्कृतिक स्वातंत्र्य नाकारले जाते, तेथे वैचारिक आणि क्रियाशील अठाव होतात। ज्यू असतो, बुराकुमीत असतो, निग्रो असोत की दलित असोत)।"[30] भारत में दलित शब्द का प्रयोग सन् 1933 में प्रारम्भ हुआ था। उस समय की तात्कालिक सरकार (अंग्रेजी सरकार) ने Depressed Classes के समाज को कुछ सुविधाएँ उपलब्ध कराई थीं। इस Depressed Classes के अंतर्गत अस्पृश्य समाज के साथ-साथ पिछड़े हुए समाज के आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों को रखा गया था।

भारतीय समाज में दलितों की स्थिति अंग्रेजों के आगमन से पूर्व और ही दयनीय थी। इनको रहने के लिए गाँव का बाहरी छोर दिया जाता था, जो कि सवर्ण बस्तियों से दूर हुआ करता था।

दलित शब्द अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों का ही एक रूप है। "भारतीय संविधान में दलित जातियों को 'अनुसूचित जाति' माना गया है। भारतीय समाज में जाति की जड़ें बहुत गहरी हैं। कहा तो यह भी जाता है कि जिस जाति को सबसे निचली जाति माना जाता है, वह भी अपने से नीचे की कम से कम दो जातियों को खोज निकालती है। वैसे भारतीय समाज में वाल्मीकियों या भंगी को सबसे नीची जाति समझा जाता है और उनका पारंपरिक पेशा मानव मल की सफाई करना है। आज भी गाँव से शहरों तक में सफाई के कार्यों मे इसी जाति के लोग सर्वाधिक हैं ।"[31] दलितों से जुड़ी एक बात और जो हमारे समाज का चरित्र सामने लाती है। "समाज में इनको हर वक्त अपमानित किया जाता था। यदि कोई उन्हें छू जाता था तो उसे कपड़े सहित स्नान करना पड़ता था, यहाँ तक कि अछूत जाति के लोगों को अपना घर, सवर्णों के घर से दूर बनाने का निर्देश था तथा मन्दिर और गाँव की निश्चित सीमा के अंदर प्रवेश करने का अधिकार नहीं था।"[32] अंग्रेजों के जमाने में दलितों के उत्थान पर विशेष बल दिया गया, जिससे कि समाज में उनकी खोई हुई अस्मिता उन्हें प्राप्त हो सकी। अभय कुमार दूबे लिखते हैं कि "अंग्रेजों के जमाने में हुए आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तनों और उदारवादी मूल्यों के प्रसार से कर्म-सिद्धान्त की जकड़ और ढीली हुई। दलितों ने ऊँची जातियों के प्राधिकार पर सवाल उठाने शुरू कर दिए। उनके संघर्ष और प्रतिरोध में बढ़ोत्तरी हुई।"[33]

राजेन्द्र यादव कहते हैं-"यह सच है कि दलितों और स्त्रियों के लिए मुक्ति-मार्ग पहले व्यापार ने और फिर अंग्रेजों ने खोले। उपनिवेश पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए उन्होंने भौगोलिक सर्वेक्षणों के द्वारा नक्शे तैयार किए, तो दूसरी ओर मर्दशुमारी की प्रक्रिया द्वारा सारे देश की जातियों, धर्मों, भाषाओं और अन्य विशिष्टताओं की पहचान की। हर वर्ग और क्षेत्र के लोगों को अपनी स्थिति और संख्या की वास्तविक जानकारी इसी जनगणना से मिली। राष्ट्र की परिकल्पना में इस भूगोल और आबादी के स्वरूप का बहुत बड़ा हाथ है। दूसरी थी लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रारम्भ ।

सही है इंग्लैंड में जो डैमोक्रेसी थी,उपनिवेश में ठीक वही नहीं थी - मगर प्रशासन और कानून की दृष्टि में एक ब्राह्मण और शूद्र दोनों बराबर थे। उधर ईसाई धर्म भी इसी समता की बात करता था कि शिक्षा, जीविका या रहन-सहन के मामले में सबको एक-सा अधिकार मिलना चाहिए- यह सिद्धान्त अपने आप में क्रांतिकारी और जड़ हिन्दू समाज को बौखला देने के लिए काफी था।"[34] यदि दलित अस्मिता की बात की जाए तो हरिनारायण ठाकुर का कहना है कि "अंग्रेजी राज में दलितों की अस्मिता का प्रश्न बड़ी जोरों से उछला। इस संबंध में महात्मा फुले, पेरियार, शाहूजी महराज, अम्बेडकर, नारायण गुरु आदि के आंदोलनों के देखा जा सकता है। इन महापुरुषों का आंदोलन सामाजिक समानता और भारतीय समाज में दलितों को उचित सम्मान दिलाने का ही आंदोलन था।"[35]

इस संदर्भ में डॉ. जय प्रकाश कर्दम का कहना है "दलित जाति-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत हैं। मार्क्सवादी वही पुराने केवल वर्ग-भेद मिटाने के अपने पोथीनिष्ठ सिद्धांतों पर अडिग हैं। जाति विरोध से उनका कोई लेना-देना नहीं है। मार्क्सवादी आंदोलन सामंतवाद या पूंजीवाद अर्थात् वर्ग-भेद के खात्मे पर जाकर विराम ले लेगा क्योंकि यही उसकी मंजिल है, जबकि दलितों के सामने जाति तब भी एक समस्या बनी रहेगी ।"[36] कहना न होगा कि दलित-विमर्श आज के समय की आवश्यकता है क्योंकि सामाजिक संरचना के सही चेहरे के लिए इसकी महत्ता अक्षुण्ण है।

1.1.2.1.4. **आदिवासी अस्मिता :**

भारतवर्ष की लोकतांत्रिक व्यवस्था विश्व के लिए एक मिसाल है। आज इस देश को आजाद हुए लगभग 69 वर्ष हो गए हैं, पर मालूम होता है कि आजाद केवल लालकिला हुआ है क्योंकि आदिवासी समाज को समानता, सामाजिक न्याय, सर्वांगीण विकास जैसी व्यवस्था से महरूम रखा

गया है। "आदिवासी संपूर्ण भारत में हैं, इनकी संख्या लगभग 8 करोड़ है। यह देश की आबादी के 7.8%हैं। पूरे देश में आदिवासी समुदाय की कुल संख्या लगभग 600 से अधिक है। देश के 70% वनज और अन्य प्राकृतिक संसाधन 90%, कोयला खदानें 80% खनिज सम्पदा आदिवासी इलाकों में हैं। फिर भी 85% आदिवासी गरीबी-रेखा के नीचे गुजर बसर कर रहे हैं। देश के कुल बंधुआ मजदूरों में 83% मजदूर आदिवासी हैं। सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, जमीन और जंगलों से आदिवासियों की बेदखली, उनकी सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था का नाश आदि कारणों से आज भी आदिवासी पिछड़े हुए है।"[37] भारत में मूल निवासियों की जब बात आती है, तो केवल आदिवासियों के नाम की गणना अग्रिम पंक्ति में की तो जाती है परंतु वे गुमनाम हो जाते हैं। उनका समाज एवं परिवार एक सुविधाहीन जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है, उनके जीवन से स्वतंत्रता और जीवन मूल्य कोसों दूर हो जाता है। "जो विचारधारा आदिवासी जीवन को उठाने, उनके जीवन-स्तर को समकालीन धारा में लाने के लिए प्रयत्नरत है, आदिवासी की वास्तविक जगह लोकतांत्रिक समाज में दिलाने के लिए प्रतिबद्ध है, वही विचारधारा आदिवासी विमर्श है, आदिवासी चिन्तन है।"[38]

आदिवासी समाज सभ्यता के प्रारम्भिक दौर से ही जंगलों और पहाड़ों पर निवास करता आया है। तथाकथित मुख्यधारा के समाज से कभी भी उसका संपर्क सुखद नहीं रहा। आदिवासियों पर आधुनिकीकरण और भूमंडलीकरण का प्रभाव भी पड़ा। इसके परिणामस्वरूप इनकी धरोहर (जल, जंगल, जमीन, पहाड़) पर कब्जा बढ़ने लगा। तथाकथित सभ्य लोगों से जुड़ने पर ये अपनी आर्थिक, मानसिक और सामाजिक स्वतंत्रता भी खोने लगे।

आदिवासी समाज कभी भी अपनी संस्कृति, सभ्यता, धर्म और रीति-रिवाजों से समझौता नहीं करता। यदि किसी ने उनकी संस्कृति और अस्मिता को नष्ट करना चाहा तो वे अपनी अस्मिता

की रक्षा करने के लिए शासन, प्रशासन से भी टकरा गए। "आदिवासी तथा गैर-आदिवासी के बीच आपसी लड़ाई के उदाहरण के रूप में प्रायः1832-1833 केकोल विद्रोह का नाम लिया जा सकता है। किन्तु नजदीक से देखा जाए, तो इसकी जड़ में अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की कुचाल और दुष्प्रभाव था, जिसके चलते अंग्रेजों द्वारा भारी कर वसूली के लिए बाहर से थोपे गए ठेकेदारों के विरूद्ध आदिवासियों का विद्रोह भ्रमवश स्थानीय गैर-आदिवासियों की ओर उन्मुख कर दिया गया। इस क्षेत्र के लिए यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी, किन्तु उसके तुरन्त बाद के 1856 के संथाल विद्रोह,1857 के सिपाही विद्रोह और 1895-1900 के बिरसा विद्रोह में यहाँ के लोगों ने एक साथ लड़ाई लड़ी ।"[39] यह विद्रोह अंग्रेजों द्वारा किए गए पक्षपात, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ समाज के विभिन्न वर्गों का एक विशाल जन-आन्दोलन था। रूपचन्द्र वर्मा के अनुसार- "इसे 1857 की महान क्रांति के पूर्व का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा जा सकता है।"[40] इनके ऐसे विद्रोह के कारण अंग्रेजी सरकार को अपनी नीति पर पुनर्विचार करना पड़ा। मुण्डा विद्रोह भी आदिवासी अस्मिता का ही प्रतिफल था, जो अपने खिलाफ हो रहे षड़यंत्रों को विफल करने के उद्देश्य से प्रदर्शित किया गया था। यह आदिवासियों का तीखा आक्रोश था। "सभी प्रकार के शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध मुण्डा विद्रोह भी जनजातीय आक्रोश का उत्कृष्ट उदाहरण है।"[41] अनेक विद्रोहों के कारण ही 'छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम'1908 में बनाया गया, जिसके अन्तर्गत आदिवासी भूमि को गैर-आदिवासी लोगों को हस्तांतरित नहीं किया जा सकता।

आदिवासियों के पास अपनी कोई संपत्ति या कहें कि कोई धरोहर यदि है तो वह है जल, जंगल और जमीन। इसके ही इर्द-गिर्द इनकी जिन्दगी होती है, बल्कि यह कह सकते हैं कि इनके विना इनका जीवन संसार अधूरा है क्योंकि इन्हीं जंगलों में इनका निवास होता है और इन्हीं जंगलों से इनके परिवार का पोषण होता है। जंगलों को काटना इनकी धमनियों को काटने के बराबर है।

जीवन यापन के साथ जंगलों से इनका एक आत्मीय रिश्ता होता है एवं उन्हीं से उनकी अस्मिता की पहचान होती है। "आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनकी चर्चा से गहरा संबंध रखता है, वहीं वह उनकी सामाजिक संरचना और जीवनयापन के साधन जल, जंगल और जमीन से भी जुड़ा है। अस्मिता का उदय उनकी पहचान को पुष्ट करता है, तो उनकी विरासत-भाषा, शिक्षा-संस्कृति और जीवन-शैली, उनकी पहचान को जिन्दा रखती है। इनकी रक्षा किए बिना उनकी अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती और इसके लिए जरूरी है नेहरू के शब्दों में-'अपनी संस्कृति का उन पर थोपा न जाना।' आज दरकार है उनसे कुछ सीखने की न कि उन्हें अपनी अधकचरी संस्कृति एवं सभ्यता सिखाने की।"[42]

आज इसी अस्मिता के लिए आदिवासी संघर्ष कर रहे हैं क्योंकि जंगल खत्म तो उनकी संस्कृति खत्म, संस्कृति खत्म तो उनकी भाषा खत्म, भाषा खत्म तो उनकी पहचान खत्म और पहचान खत्म तो इंसान खत्म। "उनकी अपनी एक अलग विरासत और पहचान है, जो सामूहिक जीवन प्रणाली, समानता, स्वतंत्रता, भाईचारे से लैस जनतंत्र तथा स्वायत्तता पर टिकी है। इनकी अपनी भाषाएँ हैं। अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ हैं।"[43] आदिवासियों को जंगलों से विस्थापित कर उनके जीवन को कष्टों से भर दिया गया है, जिसके चलते वे तथाकथित सभ्य लोगों के बहकावे में आकर अपना सब कुछ गंवा देते हैं। ये तथाकथित लोग इन्हें समाज में खोई हुई पहचान दिलाने के नाम पर धर्म और अनेक प्रकार की 'कल्चर' से प्रभावित(बहकाते) करते हैं। कहना न होगा ये यहाँ भी छले जाते हैं। अनेक सम्प्रदाय,समुदाय इन्हें भ्रमित करते हैं। "कितना बड़ा झूठ थोपा जा रहा है उन पर। उन्हें नहीं बताया जा रहा है कि इस घर वापसी के आयोजन के बाद हिन्दुओं की जातियों में विभाजित समाज के उन्हें सबसे निचले दर्जे पर दाखिला दिया जा रहा है। इस प्रकार उनका नाम

और उनकी मूल पहचान छीनकर उन्हें हिन्दू समाज में विभाजित जमात की सीढ़ी के सबसे निचले डंडे पर बैठाया जा रहा है।"[44]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अस्मिता विमर्श आधुनिक काल की देन है। आज स्त्री, दलित और आदिवासी आदि संकल्पनाएँ काफी महत्वपूर्ण हुई दिखाई पड़ती हैं। हिन्दी में विविध विमर्शों की शुरुआत 'हंस' पत्रिका के सम्पादक राजेंद्र यादव से मानना समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि इस पत्रिका और इसके संपादक ने हिन्दी में अस्मिता विमर्श की शुरुआत ही नहीं की बल्कि इस चिंतन को गम्भीर मुद्दे में भी तब्दील कर दिया। अस्मिता विमर्श कोई संप्रदाय न होकर अपनी पहचान को बचाए रखने का एक प्रयास है, जिसके लिए देश-विदेश से आवाज उठ रही है, यह आवाज केवल शोषित और प्रताड़ित किए गए लोगों की ही नहीं बल्कि समाज के अन्य विद्वज्जनों की भी है। अर्चना वर्मा के शब्दों में अंततः यह कहा जा सकता है -"इतिहास के अन्याय के हिसाब-किताब की यह खासियत है कि वंचित के भीतर वह आक्रोश और प्रतिरोध की ऊर्जा तो भरता ही है, किन्तु तथाकथित अत्याचारी के भीतर कोई नैतिक अपराध-बोध नहीं जगाता क्योंकि कोई भी इतिहास के भीतर अपनी व्यक्तिगत हैसियत से अत्याचारी बनकर मौजूद नहीं था।...अस्मिता का यह चेहरा नकारात्मक है। यह आत्मक्षय का रास्ता है।"[45]

कहना न होगा कि स्त्री, दलित तथा आदिवासियों से जुड़े ये विमर्श संवाद के लिए एक माकूल 'प्लेटफ़ॉर्म' तो देते ही हैं। ये उत्तर आधुनिक समाजों में इन अस्मिताओं के लिए जगह बनाने के लिहाज से बहुत जरूरी भी हैं। इसके साथ ही यह प्रश्न अपनी पहचान के पुनर्नवीकरण का भी है। यह एक प्रकार से हाशिए पर पड़ी इन अस्मिताओं के लिए संजीवनी भी है।

अस्मिता पर बात करने के क्रम में उसके विविध रूपों का अनावरण आवश्यक है। इसलिए धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक धरातलों पर चहलकदमी करते हुए अस्मिता की वैविध्यमयी प्रकृति को समझना अपेक्षित है।

1.1.2.1.5. **धार्मिक अस्मिता:**

एक धर्म आधारित पहचान के पीछे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारक अत्यधिक मात्रा में काम करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस टकराव की शुरूआत औपनिवेशिक शासन से मुक्ति और भारत विभाजन के कारण हुई। वैसे तो इस देश में सदियों से हिन्दू बनाम मुस्लिम का संघर्ष होता रहा है। "19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दू-मुस्लिम टकराव की समीक्षा में हिन्दू धार्मिक अस्मिता के पुनर्जागरण का योगदान भी स्पष्ट दिखाई देता है।"[46] आज से लगभग अर्धशताब्दी पूर्व भारत की धर्मनिरपेक्षता को लोकतंत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। उस तात्कालिक समय में इसका विरोध न के बराबर हुआ था, लेकिन आज के वर्तमान समय में 'धार्मिक-अस्मिताओं' को लेकर चारों तरफ शोरगुल मचा हुआ है। वैसे "ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतंत्रता के समय (1947) में भारत में विभाजन का विचार ब्रिटिश भारत में मुसलमान समुदाय की अस्मिता के लिए संघर्ष पर आधारित रहा है।"[47] भारत विभाजन के दौरान हिन्दू-मुस्लिम दंगों में, लोगों ने राजनीतिक दाव-पेंच का अनुभव किया। अनेक समुदाय अपनी भारतीयता की पहचान को लुप्त कर एक-दूसरे की मार-काट पर आमादा हो गए- "इन अवसरों पर बड़े-बड़े समूहों की पहचान भारतीय नहीं रह जाती, न एशियाई महाद्वीप की रहती है, न वे मनुष्य जाति के सदस्य रहते हैं। यह सब अचानक एकदम खत्म कर वे केवल हिन्दू, मुस्लिम या सिख रह जाते हैं।"[48] मनुष्य की ऐसी ही अनेकानेक विविधताओं के बावजूद वर्तमान समय में 'धार्मिक अस्मिताओं' एवं सभ्यताओं के संघ

के रूप में उसके समाज की पहचान बनती जा रही है। ऐसे में उसकी मूल पहचान जैसे उसकी जातीयता, उसका व्यवसाय, उसका लिंग, उसका वर्ग आदि लुप्त होती जा रही है।

भारतीय व्यक्तियों की हिन्दू, मुसलमान, सिख या ईसाई के रूप में 'पहचान' को राजनीतिक कारणों से उनकी भारतीय होने की पहचान पर प्राथमिकता दी जाती है। "इसी अवधारणा का एक पक्ष आग्रह करता है कि भारत में हिन्दुओं का प्रबल बहुमत है और इसी कारण भारत की राष्ट्रीय पहचान मुख्यतः हिन्दू पहचान का ही कोई न कोई स्वरूप होगी ।"[49]उपर्युक्त अस्मिता यदि कहीं-किसी बिंदु पर प्रतिक्रियावाद की भूमि का संस्पर्श कर जाए तो क्या आश्चर्य ! कुछ इन्हीं स्थितियों में मुस्लिम अस्मिताओं की अभिव्यक्ति हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति नहीं बल्कि एक विद्रोह का रूप अख्तियार कर जाती है। अतः धार्मिक अस्मिता अन्य सभी अस्मिताओं एवं पहचान को अपने सामने गौण कर देती है। इससे शासन और सत्ता अपना हित साध लेते हैं। इसी कारण इसका राजनीतिकरण आज एक बड़ी समस्या है, जिससे सांप्रदायिक दंगे तक लग जाते हैं।

1.1.2.1.6. राजनीतिक अस्मिता:

राजनीतिक अस्मिता का मुद्दा किसी विचारधारा से जुड़ी हुई बात है। राजनीति आधुनिक जीवन का अनिवार्य अंग है। इसे हमने 2019 में संपन्न हुए लोकसभा चुनाव देखा भी। हमने पाया कि किस प्रकार लोगों ने विशेषकर सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर अतिरिक्त रूप से सक्रिय युवा वर्ग ने उक्त चुनाव में अपनी बड़ी भूमिका का निर्वाह किया। राजनीतिक अस्मिता व्यक्ति की सत्ता में हिस्सेदारी से सीधे-सीधे जुड़ा मसला है।

1.1.2.1.7. आर्थिक अस्मिता:

आर्थिक अस्मिता का सीधा संबंध व्यक्ति की वर्गीय पहचान से है। अर्थगत स्तर पर आधारित सामाजिक संरचना में व्यक्ति की वर्गीय अस्मिता की पहचान का माध्यम वर्ग ही होते हैं।

यह अस्मिता व्यक्ति को उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग में विभाजित करती है। आज के समय में व्यक्ति की पहचान का आधार पूंजी केंद्रित है। हम सबसे पहले उसकी आर्थिक स्थिति का ही जायजा लेते हैं।

1.1.2.1.8. सामाजिक अस्मिता:

समाज, विशेषकर भारतीय समाज का ढांचा वर्ग के साथ वर्णगत भी रहा है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जैसी वर्णगत सामाजिक संरचना का परंपरागत स्वरूप दिखाई देता है। सामाजिक अस्मिता पर बात करते हुए इन तथ्यों से दृष्टि नहीं हटाई जा सकती है। सामाजिक विषमता से ही दलित अस्मिता का विस्फोट हुआ। आदिवासी अस्मिता भी इसी सामाजिक अस्मिता का एक चेहरा है। इसके अलावा सामाजिक अस्मिता का एक पक्ष लैंगिक अस्मिता भी है, जहाँ स्त्री, पुरुष तथा किन्नर समाज या एल. जी.बी.टी. समूह का पहचान और सामाजिक न्याय के लिए चल रहा संघर्ष है।

1.2. आदिवासी समाज: अवधारणा, इतिहास और संरचना:

आदिवासी समाज पर गंभीरता से बात करने के पूर्व इस समाज की अवधारणा, इसके इतिहास और इसकी संरचना को ठीक-ठीक समझना बहुत जरूरी है। इसलिए आदिवासी समाज का बुनियादी चरित्र समझने के लिहाज से उक्त मार्ग से जाना बहुत ही आवश्यक है।

1.2.1. आदिवासी समाज की अवधारणा:

किसी भी मुद्दे पर बात करने के लिए उस विषय की अवधारणा का हमारे समक्ष स्पष्ट होना अति आवश्यक है। वास्तव में "अवधारणा का अपने आप में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। उसका अर्थ न केवल उन्हीं सिद्धान्तों से निकलता है, जिसका वे हिस्सा हैं, अपितु उनका आकार अधिकतर समकालीन संरचना और अकादमिक सदस्यों व कार्यकर्ताओं के बीच हुई बहसों से भी

बनता है।"[50] विमर्श किसी भी अकादमिक आयोजन का अनिवार्य अंग होता है। इसलिए चीजों को गंभीरता से समझने के लिहाज से ऐसे आयोजनों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए।

नृतत्वशास्त्र या मानवशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों के विचारकों ने आदिवासियों के संदर्भ में किये गए अध्ययनों में अतिवाद की सीमाओं को छू लिया है। अध्ययनकर्त्ताओं एव विचारकों ने या तो आदिवासियों को जंगली, बर्बर एवं असभ्य रूप में दिखलाया है या फिर इनका इतना वैभव समाज के सामने दर्शाया कि वह एक मिथकीय देवता-से लगते हैं। "आदिवासियों का इतिहास और उनका नृतत्वशास्त्र अधिकांशतः उन लेखकों द्वारा लिखा गया जो औपनिवेशिक शासकों की सेवा में नियुक्त थे। उन्होंने जनजातियों द्वारा किए गए कार्यों के विनाशक पहलुओं पर जोर दिया तथा व्यापार, खोज और राजनीतिक व सांस्कृतिक संस्थाओं में उनके योगदान की उपेक्षा करते हुए एक ऐसी तस्वीर खींची जो अधूरी और विकृत थी । परिणाम यह हुआ कि आदिवासी जीवन को लेकर आम अवधारणा आज भी काफी धुंधली और एकपक्षीय है।"[51]

इतिहास में आदिवासी समाज के लिए जो चित्र उकेरे गए थे, उन चित्रों को आज के समय में देखें तो हमारा इतिहास ही मिथक की श्रेणी में आ जाता है। उनके समाज, व्यवहार, संस्कृति को असभ्यता और अशिक्षा का चोला पहनाया गया है। "आज 'आदिवासी' शब्द के उच्चारण से ही हमारे सम्मुख खड़ा हो जाता है- प्रत्येक सदी से छला-सताया गया, नंगा किया गया और एक सोची समझी साजिश के तहत वन-जंगलों में जबरन भगाया गया एक असंगठित मनुष्य- अपनी स्वतंत्र परंपरा सहित, सहस्त्र सालों से गाँव-देहातों से दूर घने जंगलों में रहने वाला संदर्भहीन मनुष्य एक विशेष पर्यावरण में अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को जान की कीमत पर संजो कर रखने वाला प्रकृतिनिष्ठ तथा प्रकृति-निर्भर मनुष्य, कमर पर बित्तेभर चिंदी लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर भक्ष्य की खोज में मारा-मारा भटकने वाला शिकारी मनुष्य! कभी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैभव

से इतराने वाला यह कर्त्तव्यशील मनुष्य परंतु वर्तमान में लाचार, अन्यायग्रस्त तथा पशुवत जीवन-यापन करने वाला मनुष्य- यही है उसका कुल जीवन-वेदना से भरा लोकाचार।"[52] पूँजीवाद के विस्तार और उदारवादी नीतियों के कारण आदिवासियों से उनकी संपदा (जल,जंगल और जमीन) को छीना जाने लगा। पूँजीवाद की इस नीति की विश्वभर में काफी आलोचना हुई और समाज ने आदिवासियों के सवालों को गंभीरता से लिया। "एक ओर उनसे अपेक्षा रखी जाती है कि वे आर्थिक और सामाजिक रूप से प्रबुद्ध समाज के साथ 'घुल-मिल' जाने का स्वागत करें, दूसरी ओर उनकी ऐसी दुर्गति इस मायने में बनी हुई है कि वे आर्थिक विकास और राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्यों में अड़चन डालनेवालों के तौर पर देखे जा सकते हैं।"[53] आदिवासी समाज कभी भी अपनी संस्कृति को नहीं खोना चाहता है। इनके अपने अनोखे जीवन जीने के मापदंड है, जिनमें वह अपने जीवन को पूरे स्वाभिमान से जीना चाहते हैं। जंगलों में निवास करने वाली यह जाति कभी भी वन-संपदा को नुकसान नहीं पहुँचाती है बल्कि नित नए-नए वृक्षों को लगा कर वन संपदा का विकास करती है।

आदिवासी समुदाय को खत्म करने के लिए अनेक हमले हुए पर वे सफल ना हो सके। चाहे वह मुगल हों या अंग्रेज सभी ने इनकी वीरता के सामने घुटने टेक दिए। अनेक आदिवासी शहीद हुए परंतु झुके नहीं। यहां तक की आदिवासी महिलाएँ भी पीछे नहीं रहीं। उन्होंने अत्याचार का डट कर सामना किया, समर्पण नहीं किया। "इतिहासकारों की इस नाइंसाफी के बावजूद विद्रोही औरतों का वजूद बना रहा तो सिर्फ इसलिए कि आदिवासी समाज की ऐतिहासिक धरोहर आज भी लोकगीतों और दंतकथाओं में जीवित है।"[54] हमारा साहित्य और इतिहास 'आदिवासी' शब्द को उचित रूप से परिभाषित करने लगभग असफल रहा है। विद्वानों में इस मुद्दे पर काफी मतभेद है। गंगा सहाय मीणा लिखते हैं, "काफी विद्वानों ने आदिवासियों को परिभाषित करने की कोशिश की है। किसी जीवित और विकासमान कौम को परिभाषा के दायरे में बांधना या बांधने की कोशिश करना निश्चित

तौर पर उस कौम को समझने में साधक से अधिक बाधक ही बनेगा। परिभाषा गढ़ने के बजाय यह जरूरी है इसके समानार्थी शब्दों और उनके प्रचलित अर्थों को सामने रखना। अंग्रेजी में 'ट्राइब' के अलावा जिन शब्दों को लगभग समान अर्थों में आदिवासी समुदायों के लिए प्रयोग किया जाता है, उनमें इंडिजिनस(देशज), एबोर्जिनल (देशज), प्रिमिटिव (आदिम), नेटिव (मूल निवासी), बैंड (आदिसमूह, कबीला), नैव(भोला-भाला), सेवेज(जंगली) आदि प्रमुख हैं। हिन्दी में आदिवासी के अलावा वनवासी, जनजाति, जंगली, बर्बर, गिरिजन, लंगोटिया, बर्बर आदि शब्द लगभग समान अर्थ में प्रयोग किए जाते हैं। यहां हम इनमें से कुछ शब्दों के प्रयोग के संदर्भ को समझने की कोशिश करेंगे ताकि हमें ज्यादा बेहतर पद के चुनाव में कुछ मदद मिल सके।"[55] आदिवासी समाज अपने देवी-देवताओं के प्रति पूरी तरह आस्थावान होते हैं, ये सरना धर्म में 'सिंगबोगा' देवता की पूजा करते हैं। इनके देवता इन्हीं के साथ, इन्हीं के पास जंगलों में ही निवास किया करते हैं। "धार्मिक और पौराणिक ग्रंथों में आदिवासियों को निषाद, दास, पौंडू, आभीर और तक्षक आदि नामों से संबोधित किया गया है। धनुषधारी आखेटक होने के कारण इन्हे धनुर्धर भी कहा जाता है। इन्हें आदिवासी संबोधित करने के प्रमुख कारण उनमें प्रचलित आदिम संस्कृति और प्राचीन मान्यताएँ हैं। प्राचीनता के निर्वाह के कारण उनका जीवन गुफाओं के समान है, इसी कारण इनकी कला-शैली भी गुफावासियों की भांति है। इनमें किसी प्रकार का बौद्धिक उलझाव नहीं है, किन्तु यह जादुई प्रतीत होती है।"[56]

आदिवासी के भारतीय उपमहाद्वीप के मूल निवासी होने के संदर्भ में विद्वानों में अनेक मतभेद है। अनेक मानवशास्त्री एवं वैज्ञानिकों का मानना है कि आर्य नस्ल के लोगों का आगमन मध्य एशिया से अफगानिस्तान, बलूचिस्तान से हुआ। उनके आने से पूर्व भी यहाँ अन्य लोग निवास कर रहे थे। आर्यों के आगमन के संदर्भ में रामशरण शर्मा लिखते हैं- "इस बात के पुरातात्विक और

भाषाई साक्ष्य हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्य भाषा-भाषी मध्य एशिया से भारतवर्ष आए।"[57] जबकि हरिशचन्द्र उप्रेती लिखते हैं "आदिवासी भारतवर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज हैं, जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है।"[58] वास्तव में आर्यों के आगमन से ही आदिवासियों के अस्तित्व और पहचान पर संकट गहराने लगा था क्योंकि इन्हें अनार्य की संज्ञा देकर अपने से अलग किया गया था। आर्यों के लिए अनार्य का तात्पर्य राक्षस, नरभक्षी एवं काला कुरूप था। कवि बाणभट्ट ने आदिवासियों के विषय में वीभत्स वर्णन करते हुए लिखा है- "अहा! उनका जीवन मूर्खताओं से परिपूर्ण और सौंदर्य से अभिशप्त है क्योंकि उनका धर्म है दुर्गा को मानव मांस अर्पित करना। उनका भोजन मांसयुक्त है । उनका शास्त्र सियारों की वाणी है। अच्छे और बुरे ज्ञान देने वाले गुरु हैं उल्लू। उनके घनिष्टतम मित्र हैं कुत्ते, उनके साम्राज्य हैं घने जंगल। मदिरा पान की गोष्ठियाँ ही उनके भुज हैं । धनुष-बाण उनके मित्र हैं। वे बुरे कार्यों में लिप्त हैं । दूसरे से छीन कर लाई गई स्त्रियाँ ही उनकी पत्नियाँ हैं । वन्य बाघ ही उनके साथी हैं । जंगली पशुओं के रक्त से वे अपने देवताओं की अर्चना करते हैं और मांस का प्रसाद चढ़ाते हैं । चोरी ही उनकी जीविका है और जिस जंगल में उनका वास है, उसकी जड़ों और शाखाओं को वे काटा करते हैं।"[59] जिन्होंने सदियों पुराने रहन-सहन, संकार और रीति-रिवाजों को संजोया हो समाजशास्त्र के नजर में वे आदिवासी हैं, जबकि अर्थशास्त्रीय कसौटी के हिसाब से यदि समाज को कसकर देखा जाए तो आर्थिक विपन्नता ही आदिवासियों का लक्षण है। डॉ. डी. एन. मजूमदार लिखते हैं-"कोई जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है, जिसका सामान्य नाम है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं तथा विवाह, व्यवसाय के विषयों में कुछ निषेधाज्ञाओं का पालन करते हैं, जिन्होंने आदान-प्रदान संबंधी तथा पारस्परिक कर्त्तव्य विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया हो।"[60] कुछ निर्जन क्षेत्र मे रहने वाले मानव-समुदाय भी जनजातियों के अंतर्गत परिगणित किए

जाते हैं। गिलिन एवं गिलन ने अपनी पुस्तक "कल्चर ऐन्थ्रोपोलाजी" में आदिवासियों को परिभाषित करते हुए लिखा है - "स्थानीय जनजातियों का ऐसा समुदाय जनजाति कहलाता है, जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता है तथा जिसकी एक सामान्य संस्कृति होती है।"[61]एक अन्य समाजशास्त्री विलियम पी स्कॉट के अनुसार " एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का ऐसा समूह, जिसकी समान भूमि हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो, जनजाति कहलाता है।"[62]भारतीय संस्कृति कोश-खण्ड के अनुसार- "नागर संस्कृति से दूर रहने वाले मूल निवासी, जो आर्य और द्रविड़ लोगों के पूर्व भारत तथा भारत के बाहर से आकर जंगल-पर्वत में आत्मरक्षा के लिए रहने लगे, वे ही आदिवासी कहलाते हैं।"[63]

आदिवासी समाज के बारे में डॉ. गोविन्द गारे लिखते हैं- "आदिवासी ही इस देश के मूल निवासी हैं । बाहर से आये हुए आर्यों ने भारत के सभी प्रान्तों पर वर्चस्व प्रस्थापित कर साम्राज्य फैलाया। इसलिए आदिवासियों को जंगल पहाड़ों में आश्रय लेना पड़ा। परिणामस्वरूप आदिवासी हमेशा के लिए नागर संस्कृति से दूर रहे। साथ ही साथ अन्य लोगों ने भी उनकी उपेक्षा की ।"[64]अंततः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी किसी भी देश-काल का मूल निवासी है, जिसे अपने परिवेश से बहुत ही प्रेम होता है और जिसे तथाकथित मुख्यधारा के लोगों अर्थात् दिकुओं ने अपने स्वार्थ के लिए विकसित क्षेत्रों से दूर भगा दिया अथवा जिन्हें विकास से दूर रखा गया।

1.2.2. आदिवासी समाज का इतिहास:

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वर्तमान दौर में आदिवासी समाज अपने इतिहास को बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है। आदिवासी समाज एक तरफ अपनी परम्परा का निर्वहन कर रहा है, तो दूसरी तरफ आज के बदलते परिवेश में संघर्ष भी कर रहा है।

मध्यकाल के भारतीय शासकों ने भारतीय जनजातियों की शक्ति का आकलन करते हुए मीणा, भील, कोल, गोंड को शक्ति प्रदान की। अंग्रेजी शासन व्यवस्था में ये जनजातियाँ संकट के दौर से गुजर रहीं थीं। एक तरफ औपनिवेशिक शक्तियाँ इन पर अपना दबाव बना रही थीं तो दूसरी तरफ अनेक धार्मिक संस्थाओं ने इन्हें अपनी गिरफ़्त में लेना चाहा। देखा जाए तो उस समय ईसाई और हिन्दू धर्म ज्यादा सक्रिय थे। डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा लिखते है "इन हिन्दू धर्म-संस्थाओं तथा समाजों में आदिवासी मानव समुदाय इस प्रकार घुल-मिल गया कि वह अपना अस्तित्व भूल गया । कहीं-कहीं उनके जातीय नाम भर रह गए। कुछ जनजातियों के अपने विशिष्ट आर्थिक क्रिया-कलाप भी बने रहे। धीरे-धीरे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विविधीकरण आया और आर्यात्मक विशेषीकरण का जन्म हुआ। इसके साथ ही जाति पर आधारित व्यवसायों की स्थापना हुई। ग्राम एक स्वतंत्र एवं स्वयंपूर्ण इकाई बनता गया। इतिहास का यह अध्याय भी हजारों वर्ष पुराना है। हमारे देश में आज भी यही ग्राम-समाज हमारी सामाजिकअर्थव्यवस्था का प्रधान घटक है।"[65]

भारतवर्ष संसार में जनजातियों की संख्या के मामले में अफ्रीका के बाद दूसरे स्थान पर है "यद्यपि द्रविड़ों का मूल इतिहास अनिश्चित है किन्तु वे भी यह मानते हैं कि द्रविड़ों का एक समय समुद्र मार्ग से भारत आगमन हुआ। धीरे-धीरे ये लोग दक्षिण में जम गए और वहाँ के मूल निवासी उत्तर-पश्चिम और दक्षिण भारत से मध्य भारत के जंगलों और पहाड़ियों में खदेड़ दिए गए और वे ही भारत के आदिवासियों के विभिन्न रूपों में हैं।"[66] भारतीय उपमहाद्वीप में जनजातियों की अनेक प्रजातियाँ हैं, जो देश के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करती हैं। "अभी तक भारत की आदिम जनजातियों को निश्चित प्रजातीय समूहों में व्यवस्थित करना संभव नहीं हो सका है। यद्यपि पर्याप्त पुरातात्विक तथा जीवाश्म संबंधी आँकड़ों के अभाव में भारत के अनेक आदिवासी समूहों के उद्भव तथा अनुवर्ती इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान अस्पष्ट है, फिर भी जहाँ तक ऐतिहासिक काल का संबंध

है, उनके गौरव तथा पतन की कहानी को प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐतिहासिक आँकड़े अवश्य ही इनके जीवन पर कुछ प्रकाश डालते हैं और हम समस्या की अटकली योजनाओं में लटके रहने के बजाय विश्वसनीय सूत्रों को चुनना प्रारंभ कर सकते हैं।"[67]

भारत में आदिवासियों की स्थिति को समझने के लिए सबसे पहले हमें सिंधु घाटी की सभ्यता का इतिहास एवं आर्यों के भारत आगमन के ऐतिह्य पर विचार करना होगा। इस संदर्भ में श्यामाचरण दूबे लिखते हैं "भारत के संबंध में एक प्रचलित भ्रामक धारणा यह है कि इस देश में सभ्यता का प्रकाश आर्यों के आगमन के साथ ही आया। नए पुरातात्विक और ऐतिहासिक तथ्य इस भ्रांति का खंडन करते हैं। उत्तर-पश्चिम से आर्य भाषाएँ बोलने वाले समूहों की लहरें, एक के बाद एक जब इस महाद्वीप में आ रहीं थीं, तब भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हो चुका था। इस सभ्यता के मुख्य तत्व थे- सुनियोजित नगर, विकसित कृषि-व्यवस्था, वाणिज्य और व्यापार का सुनियंत्रित जाल, जटिल धार्मिक विश्वास और कर्मकांड और एक ऐसी लिपि, जिसे अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। यह सभ्यता 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' अथवा 'हड़प्पा सभ्यता ' के नाम से जानी जाती है।"[68] श्यामाचरण दूबे आगे लिखते हैं कि आदिवासियों से संबंधित मौखिक परंपरा का एक बड़ा भाग लिपिबद्ध हो गया है "उनकी (आदिवासियों की) मौखिक परम्परा का एक बड़ा भाग कालांतर में लिपिबद्ध हो गया, इसीलिए हम यह जान सके कि वे आर्य-पूर्व भारतवासियों के संबंध में क्या धारणाएँ रखते थे। दुर्भाग्यवश आर्य-पूर्व परंपरा के ऐसे दस्तावेज शेष नहीं हैं, जिनसे हम यह जान सकें कि आर्यों के बारे में उनका मत क्या था। यहनिश्चित है कि उन्होंने आर्यों की प्रजातीय अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। भारतभूमि पर नए-नए आर्यों को अपनी प्रजातीय उत्कृष्टता पर दंभ था और उन्होंने उसकी शुद्धता को बचाए रखने के प्रयत्न भी किए। शीघ्र ही ऐसी स्थिति आई, जब भारत की जनसंख्या में अनेक प्रजातीय शुद्धता के दावे किए जाते रहे, परंतु वे

केवल एक मिथक थे ।"[69] उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि आदिवासी जीवन के इतिहास का बड़ा हिस्सा अब तक लिपिबद्ध नहीं है। यह प्राय: किस्से-कहानियों में ही मौजूद है और किंवदंतियों की शक्ल में अपने यहाँ मौजूद है।

आर्यों और अनार्यों के मध्य भीषण संघर्ष, आर्यों द्वारा अनार्यों (आदिवासियों) का संहार किया जाना केवल एक मिथकीय घटना नहीं है। इस भीषण नरसंहार के कारण अनार्यों को जगलों की तरफ अपना रुख करना पड़ा और वहीं उन्होंने अपना संसार बनाया एवं "यहीं से आदिवासियों की सामाजिक दुर्दशा का इतिहास सही अर्थ में प्रारंभ हुआ। यही उनके वनवास की कालरात्रि की शुरुआत है। उनके पूर्णत: पिछड़ेपन का पूर्णरूपेण कारण बनी वर्ण-व्यवस्था भी यहीं से शुरू हुई और उन्हें वनों-जंगलों की ओर भगाने का कार्य भी तभी संपन्न हुआ।"[70]

पुनश्च, अनेक पौराणिक कथाएँ भी हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'रामचरितमानस' में एक प्रसंग है, जिसमें 'शबरी' रामचन्द्र जी को अपने जूठे बेर खाने को देती है और राम जी बहुत ही प्रेम से उसे ग्रहण करते हैं। 'शबरी' भी जनजाति से ही संबंधित एक स्त्री पात्र थी। उसके नाम में ही शबर जनजाति की पहचान छिपी थी। वेरियन ऐल्विन कहते है -"शबरी ऐसे योगदानों का एक ऐसा प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं और करेंगी।"[71]

इसी संदर्भ में नदीम हसनैन भी लिखते हैं-"उस समय ज्ञात जनजातियों में से अधिकांश के महाभारत तथा असंख्य घटनाओं में सम्मिलित होने का दावा किया गया है। एकलव्य नामक एक भील जिसने द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा अर्पित कर दिया था, दंत कथाओं में एक आदर्श शिष्य के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डा तथा नागाओं ने कौरवों की ओर से पांडवों के विरुद्ध लड़ने का दावा किया है। भीम के पुत्र घटोत्कच, जिसने युद्ध में असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया था, का

जन्म भीम की जनजातीय पत्नी हिडिंबा से ही हुआ था। अर्जुन ने एक नागा राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था।"[72] कहना न होगा कि हमारे आदि ग्रंथों में भी आदिवासी समाजों का कोई-न-कोई जिक्र तो मिलता ही है।

इसके अलावा एक तथ्य यह भी है कि अनेक शासकों ने समय-समय पर जनजातियों को पराधीन बनाए रखा तथा उनका संहार किया, चाहे वह अजातशत्रु हो, सिकन्दर हो या फिर अशोक। "कौशल और मगध दोनों की सेनाएं जंगली आदिवासियों और संभवतः छोटे कबीलों के विरुद्ध अभियान में लगातार जुटी रहती थीं।"[73]

आदिवासी जीवन से संबंधित 'सबाल्टर्न' इतिहास यह भी कहता है कि सामंतकाल में जनजातीय समाज के लोग हिन्दू संस्कृति के प्रभाव में आने लगे। जातिवादी व्यवस्था ने जनजातियों पर अपनी पैठ बनानी शुरू कर दी थी। इसके बाद अंग्रेजी शासन ने भी अपनी शोषणकारी नीति की शुरुआत की, जिसके कारण आदिवासी समुदाय जंगलों की तरफ भागने को मजबूर हो गए। "साथ ही साथ अंग्रेजों ने जमींदारी व्यवस्था लागू कर आदिवासियों के उन गाँवों में, जहाँ वे सामूहिक खेती किया करते थे, जमींदारों, दलालों में बांटकर राजस्व की नई व्यवस्था लागू करदी थी । तब बड़े पैमाने पर लोग आंदोलित हुए। उस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह शुरू हुए।"[74]लगभग 18वीं सदी तक आते-आते आदिवासी समाज पर अपने अस्तित्व का खतरा मंडराने लगा। बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से इनकी संस्कृति और सभ्यता को अन्य संस्कृतियाँ अतिक्रमित करने लगीं। "आदिवासियों ने अपना शत्रु अंग्रेजों, उनके कारिंदों और दलालों को माना, जो अपनी नई व्यवस्था उन पर जबरन थोप रहे थे। ये युद्ध महाजनों और जमींदारों के खिलाफ, अंग्रेज अधिकारियों के खिलाफ यानी अंग्रेजों के हर प्रतीक के खिलाफ था। चाहे वह उनका कार्यालय, थाना, कमिश्नरी हो या अधिकारी, कारिंदा, दलाल व गुमाश्ता अथवा सामंत साहूकार। यह था जनता का विद्रोह। इस संघर्ष में न धर्म

था, न राजसत्ता की ललक। इसमें थी अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को जारी रखने की चाह और थी अपनी संस्कृति, भाषा, जंगल, जमीन और जनता के अधिकार तथा मुक्ति की सुरक्षा की अभिलाषा। आदिवासियों के ये विद्रोह, जहाँ जबरन थोपी जा रही एक व्यवस्था के विरोध में दूसरी प्रचलित वैकल्पिक व्यवस्था का राजनीतिक विद्रोह थे, वहीं यह दूसरी व्यवस्था आदिवासियों की सामूहिक जीवन-शैली भी थी, जो समानता, भाईचारे व आजादी में विश्वास करती थी और उसे व्यवस्था में लाती थी, ये विद्रोह विदेशी-देशी शोषकों के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष भी थे।"[75] आज भारतवर्ष को आजाद हुए 71 वर्ष हो चुके हैं। हमारे संविधान में आदिवासियों के लिए कुछ खास विधि-व्यवस्थाएँ रखी गई हैं, बावजूद इसके आज इतने वर्षों बाद इनका सही तरह से विकास न हो सका है। आर्य आगे बढ़ते रहे और अनार्यों को पीछे धकेला जाता रहा। आज 71 वर्षों के बाद भी आदिवासी समाज पूरी तरह जंगलों से नहीं निकल सका। वह वहीं अपना जीवन बिताने के लिए मजबूर हैं। "इस एकांत में उन्होंने अपनी जीवन-शैली की विशिष्टता को बचाए रखा है। धीरे-धीरे उन पर सांस्कृतिक और धार्मिक दबाव बढ़ते गए। उनमें से कुछ को हिन्दू समाज की स्तरित व्यवस्था में सम्मानजनक स्थान मिल गया। शासक और शक्ति संपन्न समूह क्षत्रियों के समकक्ष माने गए। कुछ समूहों को अपेक्षाकृत नीचा स्थान मिला, पर वह असम्मानजनक नहीं था। अन्य समूह, जो नई हिन्दू पहचान स्वीकार करने वाले समूहों पर आश्रित थे और भी नीचे स्तर पर हिन्दू समाज से जुड़े। जिन आदिवासी समुदायों के पास संख्या की शक्ति थी, वे इस प्रक्रिया का अंग न बनने में सफल हुए। संख्या के अतिरिक्त उनका परिवेश भी इस विरोध को सफल बनाने में सहायक हुआ। कई छोटे-छोटे आदिवासी समुदाय ऐसे सुदूर और अगम्य भागों में रहते थे कि उन्हें लंबे समय तक छेड़ा नहीं गया। इस तरह एक ओर सामान्य हिन्दू समाज में आदिवासी प्रजातीय और सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण हुआ, दूसरी ओर कुछ आदिवासी अपनी प्रजातीय शुद्धता और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बचाए रख सके।"[76]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज सामासिकता में विश्वास करता है। वह इतिहास के पथ पर लंबी यात्रा करने वाला पथिक है। उसके इतिहास एवं अतीत को नष्ट करने की वर्चस्ववादी शक्तियों ने बहुत ही चेष्टाएँ कीं, परंतु अपने संघर्ष के बूते यह प्रजाति आदिम युग से आज तक जीवंत बनी हुई है। इसलिए यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि आदिवासी जीवन का इतिहास उसकी अस्मिता के संघर्ष का इतिहास है।

1.2.3. आदिवासी समाज की संरचना:

आदिवासी समाज को हम अध्ययन की सुविधा हेतु भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं में विभाजित कर सकते हैं।

1.2.3.1. भौगोलिक संरचना:

मानव का निवास किसी-न-किसी भूगोल का साक्षी होता है। यह भूगोल किसी पारिस्थितिकी से संपृक्त होता है। मानव अपने जीवन-यापन हेतु इस भूगोल में क्रियाशील रहता है एवं इस क्रम में उसका संघर्ष भी चलता रहता है। विपिन चन्द्र लिखते हैं कि "मनुष्य यद्यपि संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान प्राणी है तथापि उसे भी भौगोलिक परिस्थितियों के अधीन रहना पड़ता है । मनुष्य के भोजन, वस्त्र, व्यवसाय, जीवन-निर्वाह के अन्य उपाय, यातायात के साधन, आचार-विचार तथा व्यवहार इत्यादि सब कुछ भौगोलिक परिस्थितियाँ मुख्यतः मनुष्य के आसपास की प्राकृतिक अवस्थाओं तथा जलवायु से संबंध रखती हैं। वास्तव में किसी स्थान की प्राकृतिक दशा और वहाँ की जलवायु ही वहाँ के मनुष्यों का जीवनाधार है, क्योंकि इन्हीं दोनों वस्तुओं पर खान-पान और रहन-सहन निर्भर करता है ।"[77]

वर्तमान समय में अफ्रीका महाद्वीप के पश्चात भारत में सबसे अधिक जनसंख्या आदिवासियों की मिलती है। भारत की कुल आबादी में से लगभग 8.53% आबादी जनजातियों की है। ये भारत

के विभिन्न प्रदेशों में (पंजाब हरियाणा तथा संघ-शासित क्षेत्रों-दिल्ली, चंडीगढ़ और पांडिचेरी को छोड़कर) पाए जाते हैं । 8.35% में से 78% जनजातियाँ केवल मध्यप्रदेश, उड़ीसा, झारखंड, छत्तीसगढ़, राजस्थान, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल में हैं। "भूमध्य प्रजाति के लोग जनजातीय जनसंख्या का प्रमुख भाग हैं तथा इन्हें सामान्यतः द्रविड़ों के रूप में जाना जाता है। द्रविड़ इन लोगों के द्वारा बोली जाने वाली भाषा का नाम है तथा इसका कोई जातीय अर्थ नहीं है। द्रविड़ प्रजाति के अंतर्गत आने वाली जनजातियों के विषय में माना जाता है कि ये छोटा नागपुर का पठार, राजमहल की पहाड़ियों का क्षेत्रों अरावली पर्वतमालाओं, मध्य विंध्याचल, दक्षिणी पठार क्षेत्र तथा नीलगिरि की पहाड़ियों में पाए जाते हैं ।"[78]निग्रेटो नामक जनजाति भारतीय उप महाद्वीप में पाई जाने वाली जनजातियों में सबसे पहली हैं जो अब लगभग लुप्त होने के कागार पर पहुच चुके हैं "अंडमान-निकोबार द्वीप समूह में ओंगे, ग्रेट अंडमानी, संटीनेली एवं जरवा तथा केरल में कादर, इस्लार के पणियान के नाम से विद्यमान जनजातियों में अभी भी निग्रेटो प्रजाति के कुछ अवशेष पाए जाते हैं । मंगोल प्रजाति का प्रतिनिधित्व उप हिमालयन क्षेत्र की आदिम जनजातियों के द्वारा किया जात है। इन्हें दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है– पलायु मंगोली तथा तिब्बती मंगोली । पलायु मंगोली के अंतर्गत असम, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड एवं मणिपुर में रहने वाली आदिम जनजातियाँ आती हैं जबकि सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश में रहने वाली जातियाँ तिब्बती मंगोलों का प्रतिनिधित्व करती हैं।"[79]

बी.एस. गौड़ ने आदिवासियों को भौगोलिक दृष्टिकोण से देखने-समझने का प्रयास किया है और उन्हे तीन भागों मे विभाजित किया है। उत्तर-पूर्वी तथा उत्तरी मंडल, केन्द्रीय मंडक अतहवा मध्य मंडल और दक्षिण मंडल । "उत्तर-पूर्वी तथा उत्तरी मंडल के अंतर्गत भारत की पूर्वी सीमाओं की पहाड़ियाँ और हिमालय के नीचे का क्षेत्र आता है। असम, मणिपुर तथा त्रिपुरा के लोगों को इस

भौगोलिक मंडल के पूर्वी भाग में सम्मिलित किया गया है। उत्तरी भारत में पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ आती हैं । इस भौगोलिक क्षेत्र में जनसंख्या में सघनता नहीं है। इस क्षेत्र की जनजातियाँ 'टेरस खेती' करती हैं जिहें स्थानीय भाषा में झूम खेती कहते हैं। मिश्मी, कुकी, लिशाई, खासी, गोरों, लेप्चा, थारू, भोकसा आदि इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण जनजातियाँ हैं ।"[80] इनके अलावा "केन्द्रीय अथवा मध्य मंडल क्षेत्र के उत्तर में गंगा का मैदान, दक्षिण में कृष्णा नदी के मध्य पठार तथा पहाड़ी तथा उत्तर-पूर्व में गारो पहाड़ियाँ, राजमहल की पहाड़ियाँ आदि सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र में अधिकांशतः मध्य प्रदेश की जनसंख्या आती है, जिसका विस्तार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिण भारत, उत्तरी महाराष्ट्र, बिहार तथा उड़ीसा तक है। उत्तरी राजस्थान, दक्षिण महाराष्ट्र तथा बस्तर के क्षेत्र भी इस मंडल की परिधि के अंतर्गत आते हैं। इस मंडल में निवास करने वाली महत्वपूर्ण जनजातियाँ सवारा, गदूवा, गंजम, जनपद की वोरिडो, खारिया, गोंड तथा उड़ीसा की पहाड़ियों की भुइयाँ हैं। छोटा नागपुर के पठार में मुण्डा, संथाल, औराँव तथा विरहोर जनजातियाँ निवास करती हैं और पश्चिम में कटकारी, कोल्तथा भील जनजातियाँ रहती हैं। कोशकु, अगारिया, परधान वैगा आदि आदिम समूह भी इस मंडल के सतपुड़ा क्षेत्र में पाए जाते हैं। अस्थायी कृषि (शिफ्टिंग खेती) इन जनजातियों का मुख्य पेशा है, किन्तु संथाल, मुण्डा, ओराँव आदि जनजातियों ने बाहरी लोगों के संपर्क में आकर हल चलाना भी सीख लिया है ।"[81] दक्षिण भौगोलिक मंडल क्षेत्र के अंतर्गत कृष्णा नदी के दक्षिण का क्षेत्र आता है। "आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, कोचीन, बदागा, कडार, मालवादन, मलाकुखन तथा कोटा आदि जनजातियाँ इस क्षेत्र में बहुलता से निवास करती हैं। आखेट तथा मछली पालन इन लोगों का मुख्य पेशा है।"[82]अतः विभिन्न आदिवासी समाज का अपना एक निश्चित क्षेत्र एवं नाम होता है। अपने विभिन्न भौगोलिक क्षेत्र के कारण समस्त जनजातियाँ विभिन्न क्षेत्रों में निवास कर रही हैं।

1.2.3.2. आर्थिक संरचना:

आदिवासी समाज के लोगों मे आर्थिक समस्या एक प्रमुख कारण है। यह समाज आर्थिक समस्या को दूर करने के लिए मुख्यतः जंगलों पर निर्भर होता है, इन्हीं जंगलों के सहारे ये अपने जीवन को चलाते हैं किन्तु आज भूमण्डलीकरण के कारण इनके आर्थिक जीवन पर व्यापक असर पड़ रहा है। भूमंडलीकरण के कारण जंगलों के कटाव के काम निरन्तर चल रहे हैं, जिसके चलते आदिवासी समुदाय को जंगलों से बाहर जाना पड़ रहा है और बाहर जाते ही इन पर आर्थिक समस्याओं का बोझ आ जाता है। "भारत में आदिवासी जनसमूहों का विस्थापन व पलायन तो सदियों से ही जारी है परन्तु इधर विकास के नाम पर बरती गईं नीतियों के कारण वे केवल अपनी जमीनों ,जंगलों, संसाधनों व गाँवों से ही बेदखल नहीं हुए बल्कि उनके नैतिक मूल्यों, नैतिक अवधारणओं,जीवन शैलियों,भाषाओं एवं संस्कृति से भी इनके विस्थापन की प्रक्रिया तेज हो गई है|"[83] फिर भी आदिवासी समाज अपनी जीविका को सफलतापूर्वक चलाने के लिए आज भी जंगलों पर ही निर्भर रहते हैं। बहुत कम ही आदिवासी लोग भूमंडलीकरण के चपेट में आने पर जंगलों को छोड़कर शहर के तरफ बढ़ते हैं "आदिवासी क्षेत्रों में आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था एक अविभाज्य इकाई है। आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही विस्तार है। यहाँ समुदाय बहुधा अनेकानेक प्राकृतिक शक्तियों पर अवलंबित रहता है, जिन्हें अनुकूल बनाने के लिए अनेक विधि प्रयास वैयक्तिक, सामूहिक और सार्वजनिक पूजा-अर्चना आदि के रूप में करता है।"[84] वर्तमान समय में भारत की जनजातियाँ अपने आर्थिक विकास के लिए प्रयासरत हैं। ये रोजगार और शिक्षा को गंभीरता से ले रही हैं तथा इसके तहत उनके लघु उद्योग को बढ़ावा भी दिया जा रहा है। "आजीविका के अनेक साधनों में संलग्न ये आदिवासी अपनी अपराध प्रवृत्ति को छोड़ रहे हैं। शिक्षा के प्रचार प्रसार ने भी इनके मानसिक स्तर को उन्नत करने में बहुत मदद की है ।"[85]हमारी

लोकतांत्रिक व्यवस्था के बावजूद सभी धर्म-जाति के लोगों में समानता नहीं है। आजादी के बाद भी यही आर्थिक एवं सामाजिक भेद-भाव चल रहा है "स्वतंत्र भारत के विकास में सबसे महत्वपूर्ण दोष समानता तथा सामाजिक न्याय के क्षेत्र में रहा है। करीब 30% भारतीय अब भी गरीबी की रेखा से नीचे हैं। 48% भारतीय पढ़-लिख नहीं सकते। आर्थिक असमानता स्पष्टतः बढ़ी है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी जातिगत उत्पीड़न बरकरार है। इसके अलावा विकसित तकनीक के लिए भारत अब भी विकसित राष्ट्रों पर निर्भर है।"[86] भारत सरकार अनेक योजनाओं के तहत इस आर्थिक भेद-भाव को खत्मकरना चाहती है पर ये खत्म नहीं हो रहा है, सरकारी योजनाएँ आदिवासियों के जीवन-स्तर को ऊपर नहीं ले जा पा रही हैं। आवश्यकता है कि योजनाओं को जमीनी स्तर पर क्रियान्वित किया जाए।

1.2.3.3. राजनीतिक संरचना:

भारतीय आदिवासियों के समक्ष अनेकानेक समस्याएँ आती रही हैं। स्त्री-शोषण, भूमि हस्तांतरण, अशिक्षा, महाजनी शोषण, अन्धविश्वास, प्रशासनिक, बेरोजगारी, विस्थापन और पुनर्वास की समस्या आदि-आदि। आज आदिवासी समाज में राजनीति ने अपनी पैठ बना ली है। सभी जनजातियाँ अपनी समस्याओं का निवारण ग्राम परिषदों के माध्यम से कर रही हैं, इसके लिए वे ग्राम परिषदों का गठन किया करती हैं। "लेकिन आज निजी स्वार्थों, बृहत् संवैधानिक व्यवस्थाओं के फलस्वरूप, आपराधिक मामलों में शासकों का हस्तक्षेप आदि के फलस्वरूप कुछ आदिवासी समूहों में जनजातीय ग्राम परिषदों का महत्व कम हो रहा है।"[87] आज नैतिक एवं सामाजिक रूप से आदिवासियों को तोड़ा करके उनके अन्दर निजी स्वार्थ की भावना को भरा जा रहा है। अनेक समुदाय उन्हें प्रलोभन दे रहे है, आदिवासी समाज की एकता ही उनकी सबसे बड़ी पहचान है।"आदिवासी समूह में सामूहिकता की भावना ही व्यक्तियों को समूह में बाँधकर रखती है और उनमें

समूह द्वारा निर्दिष्ट व्यवहार प्रतिमान के अनुसार कार्य करने को बाध्य करती है. किन्तु जब व्यक्ति अपने स्वार्थ को समूह के स्वार्थ से अधिक महत्व देता है तो वह समूह की अपेक्षा करता है और इस प्रकार सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को बल मिलता है ।"[88] समाज में आदिवासियों के लिए समस्याओं का सबसे बड़ा संकट तब आता है जब उनकी बात करने वाले लोग अपने निजी स्वार्थ में लिप्त हो जाते है और उन्हें भूल जाते हैं। राज्य हो केन्द्र सरकारें सभी जगहों पर इनका (आदिवासियों का) राजनीतिक आविर्भाव हो चुका है। समस्या इस बात की है ये लोग भी अपने समुदाय के लिए आगे नहीं आते और जहाँ तक संभव हो सके तथाकथित लोगों के साथ मिल कर इनका शोषण करते हैं। आदिवासियों की लड़ाइयों में इन्होंने कभी सरकार के सामने इनके हितों की बात नहीं कही।

आदिवासी महिलाएँ वर्तमान समय में भी अपने आप को सुरक्षित नहीं मानतीं, आदिवासी स्त्री का खुला स्वभाव देखकर अन्य समाज इनके पीछे पड़कर इनका शारीरिक शोषण करना चाहते हैं। ऐसी घटनाएँ सबसे ज्यादा कारखानों में काम करने वाली महिलाओं के साथ होती हैं। "मजदूरी करने वाली महिलाओं से सरेआम छेड़खानी की जाती है, उन्हें खरीदने के लिए रुपये दिखाये जाते हैं। औरतों की इज्जत बचाई जाती है तो उन्हें पकड़कर जेल में बंद कर दिया जाता है। बाहर के ठेकेदार मूँछों पर ताव दिए आते हैं और झारखंड के लाखों कामिनों को ट्रकों में भरकर काम कराने ले जाते हैं। यहाँ के मेहनतकश लोग गुलाम की तरह खरीदे और बेचे गये।"[89]

आदिवासियों के विभिन्न पक्षों के अध्ययन करने के पश्चात यह निर्णय निकालते हुए डॉ. शिवतोष दास लिखते हैं कि- "जनजातीय मानव समाज का एक विशिष्ट रूप है। यह रूप संरचनात्मक एवं संस्कृति आधारों पर निर्भर करता है। इन विशेष तत्वों के कारण ही जनजाति सामान्यतः अन्य समुदायों से अलग रहती है तथा अपना विशिष्ट स्थान बनाए रखती है। इन सब संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर कहा जा सकता है कि जनजाति एक सामाजिक

समूह है, जिसकी संस्थाएँ एवं नियम एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं तथा यह व्यवस्था स्तरहीन सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होती है। इनकी आर्थिक व्यवस्था स्वायत्त होती है तथा इनके सांस्कृतिक तत्त्वों में एकरूपता पाई जाती है, जिस कारण ये अन्य समूहों से अपनी विशिष्टता बनाए रखती हैं।"[90]

1.2.3.4. सामाजिक संरचना:

सामाजिक संस्कृति के आईने में समाज को देखने का तात्पर्य समस्त सामाजिक संगठनों को देखने से है, जो किसी न किसी रूप में इस समाज में उपस्थित हैं। "इन समूहों और संगठनों का अलग-अलग अध्ययन भी किया जा सकता है, ये सभी मिलकर जिन तत्वों को निर्मित करते है, उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना कहा जाता है ।"[91] आदिवासी समाज का जो सामाजिक संगठन है, उनमें काफी भिन्नता पाई जाती है। भारत में काफी जनजातियाँ हैं, जहाँ पर सामाजिक सत्ता का अलग-अलग रूप देखने को मिलता है। कहीं पर यह पितृसत्तात्मक हैं तो कहीं पर मातृसत्तात्मक हैं। श्यामाचरण दूबे लिखते हैं जैसे "भारत के अधिकांश भाग के आदिवासी समूहों में पुरुष प्रधानता है और इनमें उत्तराधिकारी का निर्णय पिता की पंक्ति में होता है। इसके विपरीत दक्षिण और उत्तर-पूर्व में उत्तराधिकार मातृप्रधान समाजों द्वारा निर्णित होते हैं और पारिवारिक गठन मातृप्रधान होता है ।"[92] आदिवासी समाज अपने नियमों का निर्माण स्वयं करता है। यह अपने नियमों के द्वारा ही समाज का संचालन करता है। यहाँ तक कि सज़ा भी ये अपने ही नियमों के द्वारा देते हैं, सरकार की बातों को एक समय के लिए दरकिनार कर सकते हैं, परन्तु अपने समाज के मुखिया के आदेश को नहीं "अपने स्व-निर्धारित नियमों के द्वारा यह सामाजिक जीवन का नियमन करता है और इस दृष्टि से वह किसी बाहरी हस्तक्षेप पर अवलंवित नहीं रहता है। सामाजिक बहिष्कार यहाँ सबसे कड़ी सज़ा होती है।

इससे कम कठोर सज़ाएँ या तो सामुदायिक सहभोज अथवा आर्थिक जुर्माना के रूप में दी जाती हैं।"[93]

1.2.3.5. सांस्कृतिक संरचना:

सांस्कृतिक स्तर पर सभी जनजातियाँ लगभग एक समान होती है। सामाजिक एकरूपता का कारण इनका स्तरहीन समाज भी है, जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में समानता का अवसर मिलता है। डॉ. शिवातोश दास आदिवासियों की संरचना के संदर्भ में लिखते हैं "जनजातीय समाज में सभी सदस्यों को उत्पादन के साधनों का समान रूप से शोषण करने का पूर्ण अधिकार होता है। इस कारण इन समाजों में हमेशा शोषित वर्ग और शोषण करने वाला वर्ग जैसे वर्ग-भेद नहीं मिलते। जब जनजाति आंतरिक रूप से विभक्त होती है, तो उसके भिन्न-भिन्न मान सामूहिक रूप से इन साधनों के स्वामित्व के अधिकार प्राप्त करते हैं न कि व्यक्तिगत रूप से इन भागों के सभी सदस्य समान रूप से इन अधिकारों का उपभोग करते हैं।"[94] भारत के आदिवासियों के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में पड़ताल करने से अनेक बात स्पष्ट हो जाती है। यथा, इनके समाज का पितृसत्तात्मक या मातृसत्तात्मक होना।

1.2.3.5.1. (क) पितृसत्तात्मक आदिवासी समाज:

भारत में अनेक आदिवासी समुदाय हैं, जिनके यहाँ पितृसत्ताहै। यथा, भील, गोंड़, संथाल, उराँव, मीणा, मुंड़ा।

1.2.3.5.1. (ख) मातृसत्तात्मक आदिवासी समाज:

मातृसत्ता केवल उत्तर-पूर्व भारतीय क्षेत्र के आदिवासी समुदाय में दिखाई पड़ती है। उनमें भी मेघालय राज्य की गारो, खासी, जयंतिया ही इस सत्ता की पोषक हैं।

1.2.3.5.2. सामाजिक-सांस्कृतिक लोकाचार:

(क) विवाह:

प्रायः भील लोग एक विवाह में ही विश्वास करते हैं। विवाह के दौरान वर पक्ष के लोग कन्या पक्ष के लोगों को कन्या का मूल्य अदा करते हैं। इतना ही नहीं, विवाह का प्रस्ताव वर पक्ष से ही आता है। गोंड जनजाति के यहाँ विवाह की अनोखी प्रवृत्ति मिलती है। इसे 'दूध लौटावा विवाह' कहते हैं। लड़की लड़के के घर बारात लेकर जाती है और मंडप लड़के के घर पर होता है, विवाह के बाद लड़की लड़के को विदा कराकर अपने घर ले जाती है। संथाल जनजाति में भी वर पक्ष कन्या पक्ष को क़ीमत देता है। इनके यहाँ "महिला का उसकी उस संपत्ति पर पूरा अधिकार होता है, जो वह अपने पिता के घर से ले आती है और खुद की कमाई संपत्ति एवं वस्तुओं पर भी उसका पूरा अधिकार होता है।"[95] मीणा जनजाति में ब्रह्म विवाह, गंधर्व विवाह एवं राक्षस विवाह का प्रचलन था, परन्तु वर्तमान समय में स्थितियाँ सुधर गई हैं। ये लोग आपसी रजामंदी के माध्यम से तलाक भी दे सकते हैं और पुन: किसी से विवाह करने की छूट भी मिलती है।

(ख) त्योहार:

आदिवासी समुदाय भी हिंदू समुदाय से प्रभावित दिखाई पड़ता है। ये हिंदू देवी-देवताओं की पूजा किया करते हैं एवं कर्मकांडों पर इनका पूरा विश्वास है। होली इनका खास त्योहार है। वहीं गोंड जनजाति "प्रकृति की अपार शक्तियों की पूजक है। वह चाँद और सूरज, बादल, बिजली, वर्षा, अग्नि के प्रति पूजा का भाव रखती आई है।"[96] ये लोग वर्ष में तीन उत्सव मनाते हैं- देवपान, नवात्र और होली। संथाल जनजाति के तोहार के संदर्भ में डॉ. शिवातोष दास लिखते हैं "प्रमुख पर्वों में सरोका, सोहराय, पाता, काराम आदि मुख्य हैं। ये सोहराय को सबसे बड़ा त्योहार मानते हैं। 'बाहा' उनका सबसे पवित्र त्योहार माना जाता है। जब तक गाँव में बाहा पर्व नहीं हो जाता है, वनों के नए फूल,

फल एवं पत्तों का व्यवहार वर्जित रहता है। एरोक, धान बोने के पहले एवं हरियड़, धान के पौधे कुछ बड़े हो जाने पर मनाते हैं। पाता पर्व पर महादेव की पूजा की जाती है। हनुमान को भी ये लोग देवता मानते हैं ।"[97] उराँव जनजाति सरहूल, करमा तथा कन्हारी त्योहार मनाती है। मीणा जनजाति के त्योहारों पर हिन्दू परम्परा की छाप दिखाई पड़ती है। "धार्मिक दृष्टि से मीणाओं को उच्च वर्णों की श्रेणी में शामिल किया गया है, जिसमें महाजन, ठाकुर तथा राजपूत शामिल हैं। ये अपने आप को हिन्दू मानते हैं और सभी संस्कार हिन्दुओं के अनुसार करते है एवं ब्राह्मणों की सेवाएँ भी लेते हैं।"[98] कहना न होगा कि आदिवासी समाजों की अपनी विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संरचना तो रही ही है, साथ ही उनका एक अधूरा इतिहास भी रहा। अभिजन समाज के तथाकथित इतिहास से वे पर्याप्त रूप में ग़ायब रहे। उनकी अवधारणा, इतिहास तथा उनकी विविध संरचनाओं को अब भी उचित आकार और स्थान लेना है।

1.3. विकास की अवधारणा और आदिवासी समाज का सच:

'विकास' से तात्पर्य किसी व्यक्ति या समाज के सर्वांगीण विकास से है। यदि विकास टिकाऊ हो तो स्वीकार्य है, परंतु दुनिया के ताक़तवर देशों द्वारा दुनिया के कमजोर देशों में विकास का जो पैमाना चल पड़ा है, वह विध्वंसक है; विकास की ओर तो वह नहीं ही जाता। दूसरी ओर विकास का वहाँ तात्पर्य आर्थिक विकास मात्र है। यह विकास की एकांगी अवधारणा है। इस संदर्भ में महात्मा गांधी का कहना है- "मेरा विश्वास है कि यदि भारत को और भारत के माध्यम से विश्व को भी सच्ची स्वतंत्रता पानी है तो उसे गाँवों में रहना होगा झोंपड़ियों में, महलों में नहीं। कुछ करोड़ लोग शहरों और महलों में कभी भी सुख और शांतिपूर्वक नहीं रह सकते, मेरे गाँव इस समय मेरी कल्पना में हैं- मेरी कल्पना के गाँव का गाँववासी निरुत्साह नहीं होगा। वह अपनी जिन्दगी किसी काल-कोठरी में बंद जानवर की तरह नहीं जिएगा। आदमी और औरत स्वतंत्र होंगे और दुनिया का सामना करने को

तैयार भी। कॉलरा, प्लेग और स्माल-पाक्स जैसी बीमारियों का कोई नाम तक न जानता होगा। ना आलस्य होगा न विलासिता ।"[99] गांधी जी का विकास मॉडल नेहरू तथा अन्य स्वतंत्रता सेनानियों के विकास मॉडल से अलग था। रामचन्द्र गुहा तथा माधव गाडगील ने भारत का पर्यावरणीय इतिहास लिखते हुए कहा है - "अधिकांश राष्ट्रवादी (स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद) मानते थे कि भारत का पुनर्निर्माण सिर्फ पश्चिम के पद पर उसकी तरह या उससे भी बेहतर चलकर, बौद्धिक रूप से आधुनिक विज्ञान की दीप्ति द्वारा और भौतिक रूप से बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण को अपनाकर ही हो सकता है ।"[100] क्या औद्योगीकरण ही वह माध्यम है, जिससे हम चतुर्दिक विकास कर सकते हैं? क्या यही रास्ता है कि औद्योगीकरण जिस पर समाज को चला चाहिए? वात यदि औद्योगीकरण से है तो सबसे ज्यादा विकास उस क्षेत्र के लोगों का होना चाहिए, पर ऐसा वर्तमान समय में नहीं हो रहा है और नकभी भूत में ही हुआ "आज कुछ लोग यह कहकर पिछड़े इलाकों में आदिवासी किसानों की जमीन हड़पने की बात कहते हैं ताकि क्षेत्र में औद्योगिकीकरण हो और विकास व रोजगार का आधार तैयार हो। नंदीग्राम में टाटा कार-प्लांट के लिए किसानों की जमीन भी यही कहकर छीनने की गलती वहाँ के खुद को वामपंथी मानने वाली सरकार ने की थी। उसका खामियाजा भी हाल के चुनाव में उठाना पड़ गया । जो लोग इस तर्क के साँझे में आते हैं, उन्हे झारखंड की वास्तविकता से अवगत कराना चाहिए जहाँ बड़े पैमाने पर निजी व सार्वजनिक परियोजनाएँ लाई गई पर उनका लाभ वहाँ के स्थानीय लोगों तक नहीं पहुँचा ।"[101]

यहाँ पर विकास की अवधारणा को समझने की जरूरत है। भारत एक लोकतांत्रिक देश होने के बावजूद अपने समाज के आदिवासियों का विकास नहीं कर पा रही है। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाए तो पता चलता है कि विकास की प्रक्रिया में केवल विकास इन्हीं का हो रहा है जिनकी गणना हम विकसित समाज में कर सकते है। किसी भी देश का संपूर्ण विकास तभी हो

सकता है जब पूरा देश में समानता हो हम देखते हैं कि " पिछले 50 वर्षों का विकास सिद्धांत निर्णायक अत्यंत दुरूह रहा है और आधुनिकीकरण इसका एक प्रमुख स्तंभ प्रतीत होता है। वन-क्लासिकी अर्थशास्त्र में यही विचारधारा रूढ़ प्रतीत होती है। यहाँ तक की नव-उदारवादी भी प्रगति के विचार को आधुनिकीकरण के मूल पर ही आधारित मानते हैं।"[102] अन्य देश जो विकसित हो चुके हैं उनकी सोच पर ध्यान दिया जाए, तो पता चलता है कि वे आर्थिक विकास एवं तकनीक पर पूरा जोर देते हैं। " अधिक विकसित देशों जिनमें से कुछ देश ने देशों के (पहले) शासन कर चुके थे,ने इस प्रयासों में सहयोग के लिए सीमित ढंग से हाथ बढ़ाने का निर्णय लिया। ऐसा करने में विवेक और मानवीय भावना के दीर्घकालिक आर्थिक लाभ उनके अपने गणित में महत्वपूर्ण हो गए और जिन्होंने निर्णयों को भी प्रभावित किया।"[103] भारत की स्वतंत्रता के बाद इसकी बागडोर भारतीय नेताओं के सामने आई, जिन्होंने इस देश के विकास के लिए पश्चिमी सभ्यता के विकास मॉडल को अपनाया। तात्कालिक प्रधानमंत्री ने भी इसका समर्थन किया, परंतु वे भूल गए कि भारत की परिस्थितियाँ इसके लिए अनुकूल नहीं हैं, इस देश को जिसका भारी खामियाजा भुगतना पड़ा। देश में असमानता का दौर आ गया और कुछ विशेष लोग और विशेष क्षेत्र ही विकास कर सके। इस विकास प्रक्रिया के दौरान भारत का बहुसंख्यक समाज उपेक्षित रहा। इस तरह भारत के सपनों को विकास के अनुचित मॉडल ने तोड़ डाला।आदिवासियों के संदर्भ में जवाहरलाल नेहरू ने कहा है "हम आदिवासी क्षेत्रों के मामले को दिशाहीन भटकाव की स्थिति में नहीं रहने दे सकते हैं। आज की दुनिया में न यह संभव है और न यह वांछनीय ही है। परंतु इसके साथ ही हमें इन क्षेत्रों को अतिप्रशासन के जोखिम से बचाना होगा। हमें इन दो सीमांतों के बीच एक मध्य मार्ग बनाकर काम कारना होगा।"[104] आदिवासी समाज को उनकी अपनी जातीय चेतना के विकास का मार्ग चुनने का मौका दिया जाना चाहिए।

आज नक्सलवादियों को विकास विरोधी के रूप में जाना जा रहा है, परन्तु जिन क्षेत्रों में इनका प्रभाव नहीं है, उन क्षेत्रों के विकास की गति भी दयनीय और शोचनीय है, वहाँ विकास का विरोध कौन करता है? "नक्सलवादियों को जिन इलाकों में सबसे सक्रिय बताया जा रहा है, वे आदिवासी इलाके हैं। क्या वहाँ विरोध और प्रतिरोध की संस्कृति नहीं रही है? नक्सलवाद के जन्म से पहले भी इन इलाकों में सत्ता द्वारा अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को थोपे जाने का सशस्त्र विरोध किया जाता रहा है ।"[105] आज देश ने विकास का जो मॉडल अपनाया है वह त्रासदियों और समस्याओं से घिरा हुआ है। आदिवासी निरंतर अपनी जमीन से विस्थापित किए जा रहे हैं, जिसके कारण उनका अपना नृत्य, संगीत, भाषा और संस्कृति समाप्त होती जा रही है। सरकार को इन बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है और इस बारे में बहु-उद्देशीय परियोजना बनानी चाहिए, जिनसे इनका भी निरन्तर विकास हो सके। "जनजातियों को अपनी बुद्धिमत्ता और क्षमताओं के हिसाब से स्वयं अपना विकास करना होगा। इसके लिए उनकी अपनी स्वयं के संसाधनों पर स्वायत्तता जरूरी है और गरिमा के साथ उनका उपयोग भी जरूरी है ।"[106] वर्तमान दौर में भी इनके खिलाफ अत्याचारों में कोई गिरावट नहीं आई है। कुल मिलाकर अब निम्न स्तर पर ही सही सत्ता में उनकी भागीदारी तो है। यह एक कड़वी सच्चाई है, (कि सत्ता में उनकी भागीदारी का प्रतिशत बहुत ही कम है) जो हमारी लोकतांत्रिक प्रक्रिया और नीतियों को संदेह के घेरे में लाती है; जिन क्षेत्रों मे ऐसा हो रहा है, इसके लिए वहाँ की सरकारें भी बहुत हद तक जिम्मेदार हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यदि सरकारें आदिवासियों के विकास के लिए लाई गई योजनाओं को पूरी ईमानदारी के साथ लागू करायें तो आदिवासियों का विकास निश्चित ही होगा।

1.3.1.आदिवासी अस्मिता का आविर्भाव:

आदिवासी अस्मिता के उदय का संबंध आदिवासियों की भाषा, उनकी पहचान, सत्ता में उनकी भागीदारी और विविध मुद्दों पर उनकी आन्दोलनात्मक भूमिका से है। आदिवासी समाज अपने द्वारा ही अपनी सामाजिक संरचना को चलाना चाहता है। आदिवासी समाज बहुत हद तक दुर्गम स्थानों पर अपनी रिहाइश के कारण भी मूलधारा से कटा-पिटा रहा। उसका विकास न हो सका। सभ्यताओं के इतिहास की वर्चस्ववादी अवधारणा ने आदिम होने के बावजूद इन्हें इतिहास से ही गायब कर दिया। इनके अस्तित्व के संरक्षण का प्रश्न ऐसे में ही उठ खड़ा हुआ। इस प्रश्न को आदिवासी असंतोष ने और हवा दी, जिसका परिणाम आदिवासी विद्रोह के रूप में सामने आया। ये विद्रोह आदिवासियों द्वारा उनकी स्वयं की अस्मिता के संरक्षण के लिए चल रहे संघर्ष का परिणाम भी थे। वे चाहते थे कि उनके जल, जंगल और ज़मीन को उनसे न छीना जाए। औद्योगीकरण और प्रौद्योगिकी के विकास की क़ीमत उन्हें ही चुकानी पड़ी। लोकतंत्र की खूबसूरती है मताधिकार। आदिवासी समाज जब इस बात को समझ सका तो उसने सत्ता और राजनीति में अपनी भूमिका को भी समझना शुरू किया। यह एक बड़ा बदलाव था। सत्ता पक्ष को यह समझ में आ गया कि आदिवासी वोट बैंक को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। इसलिए उसने आदिवासी नेताओं की खरीद-फरोख्त शुरू कर दी। उनकी (आदिवासियों) की अलग-अलग धर्मों में 'घर वापसी' होने लगी। उन्हें उनकी पहचान से पृथक् करने का यह एक षड़यंत्र था। इसके साथ ही उनकी भाषा में शिक्षा की व्यवस्था से उन्हें वंचित कर दिया गया, जिससे कि उनसे उनकी भाषा ही छिन जाए और वे अपनी पहचान भूल जाएँ। इसके अलावा कार्पोरेट सेक्टर की अतिरिक्त दखलंदाजी ने तथाकथित भूमंडलीकरण के समय में आदिवासी समाज को हाशिए पर ठेल दिया। कहना न होगा कि

आदिवासी समाज अतीत, वर्तमान अंधकारमय हो गया और उसके भविष्य पर प्रश्न-चिह्न लग गया। ऐसे में ही आदिवासी अस्मिता के मंच पर आदिवासी विमर्श की जरूरत उठ खड़ी हुई।

1.3.2. स्वानुभूति-सहानुभूति:

साहित्य हो, समाज हो या राजनीति ही क्यों न हो, हर समय-हर मोड़ पर आदिवासी समाज की उपेक्षा हुई है और वर्तमान समय में भी ये समस्याएँ अपनी पूरी मजबूती के साथ विद्यमान हैं। जैसा कि हम जानते है कि "आदिवासी समाज को बहुत कम लोग जानते हैं क्योंकि लोग उतना ही जानेंगे जितना उन पर लिखा गया है। हिन्दी साहित्य में बहुत से विमर्शों की तुलना में आदिवासी विमर्श की गूँज कम दिखलाई पड़ती है।"[107] हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श बहुत दिनों तक उपेक्षित रहा है। अनेक विमर्शों के बाद आज यह अपना स्थान कुछ हद तक बना सका है। आदिवासी विमर्श में जो बाते खुल कर सामने आई हैं, उनमें भी पूरी सचाई नहीं मालूम पड़ती है। उनके संदर्भ में लिखने वाले ज्यादातर लेखक गैर-आदिवासी हैं, तो जाहिर है कि उन्होंने आदिवासी समाज की जीवन-शैली या परेशानियों को न तो आदिवासियों की तरह महसूस किया होगा और न ही भोगा होगा। ऐसे में उन्होंने साहित्य में आदिवासी समाज के संदर्भ में जो व्याख्या की है, वह सहानुभूति की श्रेणी में आती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा लिखे गए साहित्य में पूरी तन्मयता या आत्मनिष्ठता नहीं होगी। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु आज स्वयं आदिवासी समाज अपना इतिहास लिखने के लिए पूरी तन्मयता के साथ सामने आने लगा है। अपने इस इतिहास में आदिवासी समाज अपनी पीड़ा, अपने संघर्ष को शब्द दे रहा है। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने आदिवासी अस्मिता को केन्द्र में रखकर अपने अंकों का प्रकाशन किया तथा उनकी पहचान को दिलाने का काम किया है। इसके साथ ही अनेक शोधकार्यों के द्वारा भी इस विमर्श को केंद्र में लाने का कार्य किया गया है। जहाँ तक पत्रिकाओं की बात है 'वाङ्मय', 'समवेत', 'आदिवासी सत्ता', 'कथाक्रम',

'अरावली उद्घोष', 'युद्धरत आम आदमी' जैसी पत्रिकाओं ने आदिवासी जीवन पर केंद्रित विशेषांक निकाले हैं। ऐसे में यह कहना उचित लगता है कि "जब आदिवासी साहित्य की बात आती है तो प्रश्न उठता है कि जन्मना आदिवासी लेखकों द्वारा रचे गये और गैर आदिवासियों द्वारा रचे गये साहित्य में जीवनानुभव, विषयवस्तु और शिल्प में कहां तक अन्तर है।"[108] इस संदर्भ में रमेश चंद्र मीणा का यह कहना सही जान पड़ता है "आदिवासी साहित्य और विमर्श में जो मूल्य-चिन्तन और अस्मिता-चिन्तन का आजजो दौर शुरू हुआ है, उसकीवास्तविकदस्तक मुख्यधारा के साहित्य और विमर्श में नहीं होती तथा वहाँ दृष्टि में अन्तर रहेगा ही क्योंकि यह समाज (आदिवासी समाज) मुख्यधारा से अलग-थलग रहा है। लेखक अपनी जाति का साहित्य लिखता है, किसी जाति विशेष की जातीय संवेदना पर दूसरे कैसे लिख सकते हैं ?"[109]परंतु इसके साथ ही यह भी एक बात है कि आदिवासी द्वारा लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य होगा, यह मान्यता उचित नहीं लगती क्योंकि हर शोषित के लिए पहली आवाज शोषित की तरफ से ही उठे, यह हमेशा संभव नहीं होता। बुद्धिजीवियों की सामाजिक परिवर्तन में एक बड़ी भूमिका रही है। आदिवासियों के साथ हो रहे अन्याय को देख कर बुद्धिजीवी वर्ग शान्त नहीं बैठता है, वह उसे कटघरे में खड़ा कर देता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दलितों पर लेखन करने में प्रेमचंद की एक महती भूमिका रही है। ऐसे में सवर्ण होने के कारण क्या उनके लेखन को अपदस्थ कर दिया जाना चाहिए ? इस संदर्भ में भीष्म साहनी लिखते हैं- "मेरी नजर में उसी रचना में खरापन होगा, जिसके सृजन में लेखक का समूचा सर्जनात्मक व्यक्तित्व यानी लेखक के सृजन का सवाल है, किसी सीमा तक ही इन अपेक्षाओं की उपयोगिता रहती है क्योंकि मूलतः लेखक का संवेदन ही उसे रास्ता सुझाता है। लेखक का सर्जनात्मक व्यक्तित्व इन अपेक्षाओं से नहीं बनता, वह उसके अपने संस्कारों अनुभवों, चिन्तन, पठन-पाठन और उसकी

सूझ से बनता है। हाँ, जिस माहौल में वह जीता और साँस लेता है, उस माहौल के प्रति वह निश्चय ही उत्तरोत्तर सचेत होता जाता है।"[110]

भाषा का प्रश्न भी आदिवासी लेखक और गैर-आदिवासी लेखक के बीच मतभेद पैदा करता है। आदिवासी लेखक कहता है कि उनकी भाषा में लिखा गया साहित्य वास्तविक आदिवासी साहित्य है। वह साहित्य उसकी संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित हो।कुछ ऐसा ही दलित समाज पर चिंतन करते हुए देवेंद्र चौबे लिखाते हैं-"वंचितों के साहित्य की अवधारणा को लेकर सारी लड़ाई पाठ, पाठ की विषय-वस्तु, पाठ के स्वरूप और उसमें आए विचार तथा समाज-दर्शन को लेकर है। वंचित तबकों के रचनाकार बार-बार व्यापक भारतीय समाज के सामने यह चिंता जाहिर करते हैं कि अब तक का इतिहास उस समय की उपेक्षा, शोषण, दमन और तिरस्कार का इतिहास रहा है, फिर कैसे और कितना एक दलित गैर-दलित समाज और उसकी चिन्ता पर भरोसा करें?"[111]इस तरह सदियों से शोषित और वंचित समाज के संदर्भ में गैर-आदिवासी द्वारा लिखा गया आदिवासी साहित्य सहानुभूति का ही ठहरता है न कि स्वानुभूति का। इस संदर्भ में रमणिका गुप्त कहती हैं-"गैर आदिवासी भी संवेदना और सहानुभूति से उनके लिए साहित्य लिखें, तो कौन मना करता है उन्हें? पर यह उनका अनुभवजन्य साहित्य प्रामाणिक आदिवासी साहित्य नहीं माना जा सकता है। इसे उनके महसूस करने की, उनके अहसासों की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, सहानुभूति का साहित्य कहा जा सकता है ।"[112]आदिवासी अस्मिता को लेकर अनेक गैर-आदिवासी और आदिवासी रचनाकार लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। यथा, संजीव, महाश्वेता देवी, रणेन्द्र, हरिणाम मीणा, रामदयाल मुण्डा, मधु कांकरिया आदि।

1.4.वर्तमान समय में आदिवासी अस्मिता चिन्तन:

वर्तमान समय में आदिवासियों की जो सबसे बड़ी समस्या है, वह है अपने आप को सुरक्षित रखना, अपनी संस्कृति को बचाना। विकास के नाम पर आदिवासियों की संस्कृति से जो खिलवाड़ किया जा रहा है, वह उन्हें विस्थापित करने का सोचा-समझा खेल है। सहज-सरल और वन्य जीवन से लगाव रखने वाला यह समुदाय अनेक प्राकृतिक एवं गैर-प्राकृतिक आपदाओं का सामना करते हुए अपने अस्तित्व को आज तक कायम रखे है। आदिवासियों के पास अपनी भाषा, संस्कृति, गीत-संगीत आदि अनेक चीजें हैं। अनेक कबीलों एवं वर्गों में बंटा हुआ यह समुदाय वर्तमान समय में भी मुख्यधारा के साथ तारतम्य नहीं बिठा सका है। सरकार की अनेक आदिवासी विरोधी योजनाएँ इनके जीवन और अस्तित्व के लिए और संकट पैदा कर देती हैं। आज उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण व्यक्ति अपनी मान्यता को भूल कर एक वस्तु मात्र का रूप धारण कर चुका है। ऐसे में आदिवासी समाज चर्चा का विषय बन गए हैं।

सत्ता और राजनीति के लिए भी आदिवासी जातियों को तोड़ने-जोड़ने का कार्य होता रहा है, पर आदिवासी समाज के लिए उचित सामाजिक व्यवस्था न हो सकी। कुछ जनजातियाँ ही ऐसी हैं, जिन्होंने भारतीय संविधान द्वारा दिए गये आरक्षण का भरपूर उपभोग किया। परन्तु अधिकांश जनजातियाँ इसका लाभ न ले सकने की वजह से आज भी अशिक्षा, गरीबी, अर्थहीनता जैसे कारकों से परेशान हैं। आज औद्योगिक विकास के लिए आदिवासियों को अनेक प्रलोभन दिया जाता है । सरकारें आदिवासियों के लिए स्कूल खोलती हैं, परंतु यह दुर्भाग्य ही है कि जिस भाषा को ये आदिवासी समुदाय समझता है, उस भाषा में उन्हें शिक्षा प्रदान नहीं की जाती है। इसके परिणामस्वरूप उनकी अपनी भाषा उनसे दूर होती जा रही है। यथा, बंगाल के आदिवासी इलाकों में कई ऐसे विद्यालय हैं, जहाँ शिक्षा बंगला (बंगाली भाषा) माध्यम से दी जाती है। ऐसी योजनाओं के

कारण इनकी भाषा पर संकट के बादल छा रहे हैं। इन सरकारी आदिवासी कल्याण योजनाओं के बावजूद आदिवासी असुरक्षा की भावना से जी रहा है। असुरक्षा के कारण अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष कर रहा है। उसके इस संघर्ष को आदिवासी उत्पात के नाम पर दमन कर दिया जा रहा है।

आज भारत के विश्वविद्यालयों में आदिवासी भाषा-साहित्य के पठन-पाठन की स्थिति बहुत सुदृढ़ नहीं है। 1970 के प्रारम्भ में बिहार (वर्तमान झारखंड राज्य) के रांची विश्वविद्यालय में कई आदिवासी आन्दोलनों के बाद आदिवासी और क्षेत्रीय भाषा साहित्य का विभाग खोला गया, जिसमें स्नातक स्तर की पढ़ाई का निर्णय लेकर शिक्षकों की नियुक्ति के लिए विज्ञापन निकाला गया। शिक्षक नियुक्ति के दौरान पुन: उनके साथ छल किया गया। संबंधित शिक्षक नियुक्ति के लिए आदिवासी भाषा की जानकारी की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई। ऐसा उन तथाकथित विद्वत् लोगों की नियुक्ति के लिए किया गया, जो समाज की तथाकथित मुख्यधारा के लोग थे। कहना न होगा कि उनकी पीड़ा को अब दिकुओं के द्वारा समझाया जाना था। यह अपने आप में ही हास्यास्पद बात थी।

देश के किसी भी क्षेत्र के आदिवासी हों, नेताओं के द्वारा उनकी उपेक्षा ही की गई है। चाहे झारखंड जैसा आदिवासी बहुल क्षेत्र ही क्यों न हो। सबसे दुखद बात यह है कि आदिवासी नेता भी इन तथाकथित नेताओं के साथ सुर में सुर मिलाकर उन्हीं का राग अलापते मिलते हैं। उन्हें भी अपने समुदाय की कोई चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती है प्रो. वीर भारत तलवार अपने एक साक्षात्कार के दौरान कहते हैं -"आज झारखंड में जो आदिवासी नेता हैं, सरकार में और सरकार से बाहर भी, उनमें से कई एक की किसी जमाने में मैंने राजनीतिक क्लास खूब ली थी। लेकिन मेरी शिक्षा उनके किसी काम न आयी। आज वे सभी भ्रष्टाचार के दलदल में धंसे हुए हैं। हिन्दुस्तान में आज संसदीय जनतंत्र जिस चरित्र में ढल चुका है, आदिवासी नेता उनसे अलग नहीं हैं। उनसे कुछ भी कहना-सुनना बेकार है।

उनके खिलाफ तो वैसी ही लड़ाई लड़नी होगी जैसी जन-आकांक्षाओं की अनदेखी और अनसुनी करके चलने वाले पूरे राजनीतिक वर्ग के खिलाफ लड़ी जा रही है। आदिवासी कार्यकर्ता और लेखकों को मैं कोई उपदेश नहीं देना चाहता। वे खुद परिस्थितियों के बीच खड़े हैं और यथार्थ का आकलन करने में मुझसे अधिक सामर्थ्य हैं। फिर भी मैं अगर उनके कुछ काम आ सकूं तो मुझे खुशी होगी।''[113]

निष्कर्षतः आदिवासी समाज और उसकी अस्मिता के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि उनके समाज की अपनी एक विशिष्ट संरचना है। हमें उनके अनूठेपन को प्रोत्साहन देना चाहिए। उनकी सहयोगी एवं सामूहिक संस्कृति के साथ कदमताल करना चाहिए। उनकी समावेशी प्रकृति में भारतीय सामासिक संस्कृति के तत्व विद्यमान हैं। यह आवश्यकता है कि उनके इतिहास-लेखन का निष्ठावान प्रयास हो। यह सत्य है कि वे बचेंगे तो हमारी पारिस्थितिकी बचेगी और कहीं-न-कहीं यह हमारे अपने संरक्षण के लिए भी यह उतना ही आवश्यक है। ऐसे में यह कहना स्वाभाविक है कि अब समय आ गया है कि वे परिधि से केंद्र की यात्रा संपन्न करें और भारतीय समाज की विविधता, जो उसका सौंदर्य है, को समुचित प्रकार से अभिषिक्त करें। इसके लिए हम सभी को अपनी-अपनी भूमिकाओं का पूरी निष्ठा से पालन करना होगा।

संदर्भ ग्रंथ-सूची:

1. जनसत्ता, 06 जुलाई, 2014, रविवारीय, पृ.सं. 3
2. गुप्ता, रमणिका (सं.), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी खंड 2, रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000 पृ.सं. 9)
3. गुप्ता, रमणिका (सं.), आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, समसमायिक प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण 2013, पृ.सं. 12
4. वर्मा, डॉ. गीता, रवि कुमार गोंड़, वर्तमान समय में आदिवासी समाज, वाङ्मय बुक्स, अलीगढ़, प्रथम संस्करण,2012 पृ.सं. 194
5. गुप्ता, रमणिका (सं.), आदिवासी लोक, शिल्पायन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2012 पृ.सं. 8
6. उद्धृत',Understanding Religious Identity and the causes of Religious Violence-SairaYamin, सिंह, रसाल, बनना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संकरण, 2014, पृ.सं. 11
7. शंभुनाथ, हिन्दी उपन्यास : राष्ट्र और हाशिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.सं. 310
8. 'उद्धृत',Reflection on the Dissent of Contemporary Youth-E.H.Erikson, International Journal of Psychoanalysis.51 (1970,P.18. सिंह, रसाल, बनना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संकरण, 2014, पृ.सं. 12

9. उद्धृत',Understanding Religious Identity and the causes of Religious Violence-Saira Yamin,P.7, सिंह, रसाल, बनना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संकरण, 2014, पृ. सं. 13

10. वर्मा अर्चना, अस्मिता-विमर्श का स्त्री स्वर,मेघा बुक्स, दिल्ली,प्रथम संस्करण, 2008, पृ. सं. 35.

11. वही, पृ. सं. 35-36

12. किमलिका विल, समकालीन राजनीति दर्शन,डार्लिंग किंडरस्ले (इंडिया) प्रा.लि, (हिन्दी संस्करण) 2010, दिल्ली, पृ.सं. 272

13. किमलिका विल, समकालीन राजनीति दर्शन,डार्लिंग किंडरस्ले (इंडिया) प्रा.लि. (हिन्दी संस्करण),2010, दिल्ली, पृ.सं. 275

14. दूबे श्यामाचरण, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008 पृ.सं. 153

15. उद्धृत, सिंहरसाल,बन्ना राम मीण,आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य,अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण,2014, पृ.सं. 26

16. सं. श्रीवास्तव मुकुंदीलाल, ज्ञान शब्दकोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड,वाराणसी,प्रथम संस्करण,1956, पृ.सं. 741

17. सं. सिंह, पुष्पपाल, वृहत हिन्दी शब्दकोश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ.सं. 922

18. सं. डॉ. तिवारी भोलानाथ, हिन्दी पर्यावाची कोश, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली , प्रथम संस्करण, 2012, पृ.सं. 572

19. वर्मा, अर्चना, अस्मिता-विमर्श का स्त्री स्वर, मेघा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ.सं. 35

20. सं. विष्ट, पंकज, समयांतर पत्रिका, दिल्ली, जनवरी 2016, अंक 4, पृ.सं. 63

21. वर्मा, अर्चना, अस्मिता-विमर्श का स्त्री-स्वर, मेघा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2008, पृ.सं. 34

22. वही, पृ.सं. 36

23. जैन, अरविन्द, न्यायक्षेत्रे-अन्यायक्षेत्रे, भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 पृ.सं. 8

24. सेतिया, सुभाष, स्त्री अस्मिता के प्रश्न, सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009, पृ.सं. 29

25. जैन, अरविन्द, औरत होने की सजा, (भूमिका से उद्धृत- लेखक राजेन्द्र यादव), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994, पृ.सं. 12

26. चतुर्वेदी, जगदीश्वर स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2000, पृ.सं. 1

27. खेतान, प्रभा स्त्री उपेक्षिता (द सैकेंड सैक्स का हिन्दी रूपान्तरण), 2002, हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली, पृ.सं. 16.

28. खेतान, प्रभा, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ.सं. 53

29. वही, पृ.सं. 61

30. पानतावणे, गंगाधर, साहित्य : प्रकृती आणि प्रवति,स्वरूप प्रकाशन, औरंगाबाद, प्रथम संस्करण, पृ.सं. 29

31. सं. शुक्ल, श्रीप्रकाश, परिचय पत्रिका , वाराणसी, अंक-16,अक्टूबर,2015, पृ.सं. 58

32. उद्धृत, सिंह, रसाल, मीणा, बन्ना राम, आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एडं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2014, पृ.सं. 37-38

33. दूबे, अभय कुमार, 'आधुनिकता के आईने में दलित; वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014 पृ.सं. ,सं. 199

34. सत्ता की शतरंज और दलित मोहरे, संपादकीय, हंस पत्रिका, दिल्ली, अगस्त 2004

35. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2009, पृ.सं. सं. 311

36. उद्धृत, सिंह, रसाल, मीणा, बन्ना राम, आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एडं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2014, पृ.सं.39

37. डॉ. देबरे, शिवा जी, डॉ. मधु खराटे, समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, विद्या प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण 2013 भूमिका से

38. विश्वकर्मा, विनोद, हिन्दी उपन्यास और आदिवासी चिन्तन, अनंग प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण,2015, पृ.सं. 8

39. डॉ. मुण्डा रामदयाल, आदिवासी अस्तिव और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2002, पृ.सं. 31

40. वर्मा, रूपचंद्र, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृ.सं. 46

41. हसनैन, नदीम, जनजातीय भारत,जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2002, पृ.सं. 265

42. चौधरी, उमाशंकर (सं.), जनजातीय अस्मिता के प्रश्न, हाशिए की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा. लि., नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 311

43. चौधरी, उमाशंकर (सं.), जनजातीय अस्मिता के प्रश्न, हाशिए की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा.,लि., नई दिल्ली, 2008 पृ.सं. 313

44. गुप्ता, रमणिका (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, खंड 2, रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000, पृ.सं. 9

45. वर्मा, अर्चना, अस्मिता विमर्श का स्त्री-स्वर,मेघा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2008, पृ.सं. 39-40

46. Yamin, Saira, Understanding Religious Identity and the causes of Religious Violence, Peace Prints : South Asian Journal of Peacebuilding, Vol.1, No. 1, Sping 2008, P.12

47. Yamin, Saira, Understanding Religious Identity and the causes of Religious Violence, Peace Prints : South Asian Journal of Peacebuilding, Vol.1, No. 1, Sping 2008, P.2

48. सेन, अमर्त्य, Identity and Violence (हिन्दी संस्करण), पेन्गुइग बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ.सं. 27

49. कुमार, अरविन्द, समान्तर कोश हिन्दी थिसारस, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1996, पृ.सं. 331

50. बोस, तपन (सं.), देशज कौन? आदिवासी कौन?, द अदर मीडिया,के 14 ग्रीन पार्क एक्सटेंशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2008, पृ.सं. 8-9

51. भारत में आदिवासी प्रश्न- रंजीत साऊ अखड़ा (पत्रिका)
http://akhra.org.in/literature_articles.phd?subaction=showfull&id=1292667030&archive=&start_from=&ucat=18&
उद्धृत मीणा, गंगा सहाय (सं.), आदिवासी साहित्य विमर्श,अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ.सं. 20

52. चौधरी, उमाशंकर (सं.), हाशिए की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा.,लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2008, पृ.सं. 250

53. बोस, तपन (सं.), देशज कौन? आदिवासी कौन?, द अदर मीडिया,के 14 ग्रीन पार्क एक्सटेंशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2008,पृ.सं. भूमिका से

54. गुप्ता, रमणिका (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, खंड-2 रमणिका फाउंडेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण,2000, पृ.सं. 11

55. मीणा, गंगा सहाय (सं.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2014, पृ.सं. 21

56. शशि, श्याम सिंह (सं.), सामाजिक विज्ञान हिन्दी विश्वकोश, खंड-2, किताबघर नई दिल्ली,प्रथम संस्करण, 2012, पृ.सं. 110

57. पाण्डेय, अनिल कुमार (सं.), मध्य एशिया और आर्य समस्या, बूधनपत्रिक, अप्रैल 2004, पृ.सं. 50

58. उप्रेती, हरिश्चंद्र, भारतीय जनजातियाँ: संरचना और विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण,2002, पृ.सं. 2

59. शशि, श्याम सिंह (सं.), सामाजिक विज्ञान हिन्दी विश्वकोश- खंड-2, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृ.सं. 125

60. मजूमदार, डी.एन., रेसेज एंड कल्चर्स आँफ इंड़िया, एशिया पब्लिकेशन, लंदन, प्रथम संस्करण,1961, पृ.सं. 367

61. गिलिन एंव गिलन, कल्चरल ऐन्थ्रोपोलाजी, न्यूयार्क, प्रथम संस्करण,1950, पृ.सं. 282

62. कृष्ण, विजय लखन पाल, सामाजिक मानवशास्त्र, विद्या विहार, देहरादून, प्रथम संस्करण, 1958 , पृ.सं. 226

63. शर्मा, लीलाधर,भारतीय संस्कृति कोश, खण्ड1, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2013, पृ.सं. 428

64. डॉ. गारे, गोविन्द, भारतीय समस्या और बदलते संदर्भ, सुगाव प्रकाशन, पुणे, 2001, पृ. सं. 7-8

65. शर्मा, डॉ. ब्रह्मदेव, आदिवासी विकास : एक सैद्धांतिक विवेचन,मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1980, पृ.सं. 2

66. उद्धृत आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, सिंह रसाल, बन्ना राम मीणा, अनामिका पब्लिशर्स एन्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2014, पृ.सं. 59

67. हसनैन, नदीम जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एन्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2002,पृ.सं. 3-4

68. दूबे, श्यामाचरण, परंपरा,इतिहास-बोध संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991 ,पृ.सं. 59

69. वही, पृ.सं. सं.60

70. उद्धृत, सिंह, रसाल और मीणा, बन्ना राम, आदिवासी अस्मिता वाया कथ-साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2014, पृ.सं. 61

71. हसनैन नदीम, भारतीय जनजातियाँ, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 2002, पृ.सं. 6

72. वही, पृ.सं. 6

73. कोसंबी, दामोदर धर्मानन्द, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. सं.163.

74. गुप्ता, रमणिका, एक क्रान्ति की पड़ताल,जनसत्ता,6 मई 2007, पृ.सं. 3

75. वही, पृ.सं. 3

76. कोसंबी, दामोदर धर्मानन्द, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नौवा संस्करण, 2018, पृ.सं. 163

77. चन्द्र, विपिन, समकालीन भारत, अनामिका पब्लिशर्स एन्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ.सं. 10

78. दोषी, एस.एल., पी.सी. जैन, समाजशास्त्र : नई दिशाएँ, नेशनल पब्लिशिन हाउस नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006, पृ.सं. 369

79. डॉ. दास, शिवतोष, भारत की जनजातियाँ, किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1983, पृ.सं. 64

80. वर्मा, रूपचन्द्र, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृ.सं. 3

81. हसनैन नदीम, भारतीय जनजातियाँ, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 2002, पृ.सं. 20

82. हसनैन नदीम, भारतीय जनजातियाँ, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2002, पृ.सं. 20

83. गुप्ता,रमणिका (सं.), आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण,2014, पृ.सं. 7

84. भल्ला, डॉ. एल. आर., सामयिक राजस्थान (राजस्थानी समाज,कला एवं संस्कृति) कुलदीप पब्लिकेशंस, जयपुर, प्रथम संस्करण,1985, पृ.सं. 79

85. हसनैन नदीम, भारतीय जनजातियाँ, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली,2002, पृ.सं. 265

86. उद्धृत सिंह, रसाल, बन्ना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा-साहित्य, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. सं. 72

87. तिवारी, राकेश कुमार, आदिवासी समाज में आर्थिक परिवर्तन,क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, करमपुरा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1999, पृ.सं. 156

88. त्रिपाठी, डॉ. सत्येन्द्र, सामाजिक विघटन, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973, पृ.सं. 23

89. नारायण, एस. (सं.), शिबू सोरेन: झारखंड राज्य का सवाल, (झारखंड मूवमेंट,ओरिजिन एंड इवोल्यूशन, नई दिल्ली,इंटर-इंडिया पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण,1992, पृ.सं. 26

90. दास, शिवतोष, भारत की आदिवासी जनजातियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,1983, पृ.सं. 102

91. दोषी, एस. एल., पी .सी. जैन, समाजशास्त्र-नई दिशाएँ, नेशनल पब्लशिंग हाऊस, प्रथम संस्करण, 2006, पृ.सं. 372

92. दूबे, श्यामाचरण, परंपरा इतिहास - बोध और संस्कृति, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1991, पृ.सं. 63

93. शर्मा, डॉ. ब्रह्मदेव, आदिवासी विकास : एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1980, पृ.सं. 111-112

94. दास, शिवतोष, भारतीय जनजातियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993, पृ.सं. 100

95. वर्मा, रूपचंद्र, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृ.सं. 24

96. बाजवा, जसप्रीत (सं.), हरिनरायण दत्त, आदिवासी स्वर: संस्कार व प्रथाएँ, आकृति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण,2005, पृ.सं. 173-174

97. दास, शिवतोष, भारतीय जनजातियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993, पृ.सं. 84

98. वर्मा, रूपचंद्र, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण,2003, पृ.सं. 29

99. बाविस्कर, अमिता, इन दी वैली ऑफ दि रिवर, आक्स्फोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, प्रथम संस्करण,1996,पृ.सं. 20

100. गाडगिल, माधव एवं गुहा, रामचंद्र, इकॉनामिक एंड पॉलिटिकल वीकली (पत्रिका), खंड:27, अंक 01

101. सिंह, वैभव, आदिवासियों के बीच एक्टिविस्ट, हंस पत्रिका, दिसंबर 2009, पृ.सं. 89

102. दूबे, श्यामा चरण, विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2016, पृ.सं. 43

103. शर्मा, ब्रह्मदेव, आदिवासी विकास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1980 पृ.सं. 9-10

104. चमाड़िया, अनिल, कथित विकास का नक्सलवाद, जनसत्ता, नई दिल्ली,17 अक्टूबर, 2009, पृ.सं. 6

105. Mahapatara, L.K., Tribal Development in India (Myth and Reality), Vikas Publishing House Pvt.Ltd., New Delhi,1994, P.2

106. मीणा, रमेश चन्द्र, स्त्री सवालों को उठाते कविता, युद्धरत आम आदमी, अंक- 88, जुलाई-सितम्बर,2007, पृ.सं. 49

107. राणवत, डॉ. ऊषा कीर्ति, पाण्डेय, डॉ. सतीश, डॉ. शीतला प्रसाद दूबे, आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य, पृ.सं. 216

108. मीणा, रमेश चन्द्र, स्त्री सवालों को उठाती कविता, युद्धरत आम आदमी,अंक-88, जुलाई सितम्बर,2007, पृ.सं. 49

109. 'उद्धृत', सिंह, रसाल, बन्ना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, अनामिका पब्लिकेशंस एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्र. लि., नई दिल्ली,प्रथम संस्करण,2014, पृ.सं.113

110. चौबे, देवेन्द्र, दलित साहित्य की वैचारिक संरचना, आजकल, दिसम्बर, 2004, पृ.सं. 41

111. उद्धृत सिंह, रसाल, बन्ना राम मीणा, आदिवासी अस्मिता वाया कथा साहित्य, अनामिका पब्लिकेशंस एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्र. लि., नई दिल्ली,प्रथम संस्करण,2014, पृ.सं. 113-14

112. सागर, शैलेन्द्र (सं.), कथा क्रम, 50वाँ अंक, अक्टूबर-दिसम्बर 2011, लखनऊ, पृ.सं. 15